वैदिक-विनय

[द्वितीय खण्ड]

अभय विद्यालङ्कार

ॐ

वैदिक-विनय

[द्वितीय-खण्ड]

लेखक

'अभय' विद्यालङ्कार

चतुर्थ वार | सन् १९५६ | मूल्य दो रुपये

प्रकाशक :

प्रकाशन मन्दिर,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार ।

गुरुकुल-स्वाध्यायमंजरी का चतुर्थ पुष्प

प्रथम वार		प्रतियाँ	सम्वत्	१९....
द्वितीय वार	२०००	प्रतियाँ	सम्वत्	१९९२
तृतीय वार	१०००	प्रतियाँ	सम्वत्	२००६
चतुर्थ वार	१०००	प्रतियाँ	सम्वत्	२०१२

मुद्रक :

श्री रामेश बेदी,
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल काँगड़ी ।

आवश्यक निवेदन

यह वैदिक-विनय पुस्तक का द्वितीय खण्ड है। इस पुस्तक की जो भूमिका है, जो कुछ इस पुस्तक को पढ़ने से पहिले आवश्यक तौर पर जान लेना चाहिये, वह सब प्रथम खण्ड में 'प्रारम्भिक वचन' शीर्षक से बाईस पृष्ठों में लिखा जा चुका है। उसे यहां फिर दोहराना ठीक नहीं लगता, और उसका सारांश संक्षेप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहां जो कुछ लिखा गया है वह सभी आवश्यक है। इसलिये इस द्वितीय खण्ड में पाठकों की सेवा में मुझे जो कुछ आवश्यक निवेदन करना है वह यही है कि पाठकगण इस पुस्तक में प्रथम खण्ड में लिखी भूमिका को अवश्य ही पढ़ें, उसे बिना पढ़े वे इस पुस्तक का कुछ भी न समझ सकेंगे। बाईस पृष्ठों में लिखी गई उस खण्ड की उस भूमिका में जो-जो बातें लिखी गई हैं उन्हें पाठकों की जानकारी के लिये यहां केवल गिनाया जा सकता है। वे बातें निम्नलिखित हैं—

१. इस पुस्तक का निबन्ध-क्रम क्या है ? यह पुस्तक किन परिस्थितिओं में और कैसी तैयारी करके लिखी गई है ?

२. इस पुस्तक का स्वाध्याय किस विधि से करना चाहिये ?

स्वाध्याय-विधि में पांच आवश्यक बातें बतायी गयी हैं।

३. मन्त्रों के छन्दों का क्रम क्या है और क्यों ?

४. इस पुस्तक की दैनंदिनी सौर वर्ष की क्यों रखी गयी है ?

५. प्रत्येक ऋतु के प्रारम्भ में जो ऋतुचर्या लिखी गयी है उस के समझने के, अमल करने के लिये सामान्य बातें कौन सी हैं ?

६. हर महीने की जो एक प्राणदायक व्यायाम लिखी गयी है वह किन सिद्धान्तों के आधार पर रची गयी है ? इन व्यायामों से लाभ उठाने के लिये किन आवश्यक बातों का जरूर ध्यान रखना चाहिये और क्यों ?

कृष्ण भवन, लाहौर
२०. १२. १९८६

स्वाध्यायशील जनों का सेवक
'अभय'

★

विषय-सूची

गुरुकुल के कुछ अमूल्य उपहार

ईशोपनिषद्भाष्य

लेखक श्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति। भारतीय साहित्य में उपनिषदों का जो महत्वपूर्ण स्थान है वह किसी से छिपा नहीं है। उपनिषदों में भारतीय आध्यात्मिक चिन्तना अपनी चरम सीमा पर पहुंची हुई है। देश-विदेश के सभी आध्यात्मिक चिन्तनों में उपनिषदों का महान् आदर है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहार ने कहा था कि उपनिषदों ने मुझे जीवन काल में शान्ति प्रदान की है और मृत्यु के समय भी वे मुझे शान्ति प्रदान करेंगी। उपनिषदों में ईशोपनिषद् का सर्व-प्रधान स्थान है। शेष उपनिषदों में एक प्रकार से ईशोपनिषद् के सिद्धान्तों की ही विस्तार से व्याख्या है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के मुख्याधिष्ठाता श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति हैं। आप बड़ी सूक्ष्म बुद्धि के विचारक और लेखक विद्वान् हैं। आप का भारतीय साहित्य का अध्ययन बड़ा व्यापक गहरा और विवेचनात्मक है। स्वाध्याय प्रेमी पाठक पण्डित जी के इस ईशोपनिषद्भाष्य में एक नया प्रकाश पायेंगे। आशा है कि इस ग्रन्थ का स्वाध्याय पाठकों के लिये जहां ज्ञानवर्द्धक होगा वहां वह उन्हें मानसिक और आत्मिक शान्ति देने वाला भी होगा। मूल्य २)

वेदोद्यान के चुने हुए फूल

लेखक, आचार्य पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति। इस पुस्तक में वेद, ईश्वर, सृष्टि-प्रलय, उपासना, स्वास्थ्य, जीवनशक्ति, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, राष्ट्रनिर्माण आदि विभिन्न विषयों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण वेदमन्त्रों और सूक्तों का संग्रह किया गया है और उनकी विशद एवं मौलिक व्याख्या की गयी है। इस के अध्ययन से पाठकों को उदात्त वैदिक संस्कृति की अद्भुत झाँकी मिलेगी और आर्यों के महान् धर्मग्रन्थ वेद का एक संक्षिप्त चित्र उन के आगे उपस्थित हो सकेगा।

सजिल्द मूल्य ४)

वेद का राष्ट्रिय गीत

लेखक, आचार्य पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति। यह गुरुकुल का नवीन प्रकाशन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस में अथर्ववेद के प्रसिद्ध भूमिसूक्त की मनोरम, विस्तृत व्याख्या की गयी है, जिस से मन्त्र का एक-एक शब्द स्पष्ट हो जाता है। प्रारम्भ में ६८ पृष्ठों की लम्बी भूमिका अनेक उपयोगी विषयों पर प्रकाश डालने वाली है। राष्ट्रभक्ति को जागृत करने वाली यह पुस्तक प्रत्येक वेद प्रेमी को पढ़नी चाहिए। सजिल्द मूल्य ५)

वरुण की नौका

लेखक, आचार्य पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति। कर्मफल, पुण्य,

पाप, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की इस पुस्तक में मीमांसा है। राजा वरुण प्रभु की आंखें सब जगह पर हैं। कर्मफल-विज्ञान के जिज्ञासुओं के लिये यह पुस्तक एक वरदान है। लेखक ने अत्यन्त सरल भाषा में सच्चे सुख का सच्चा उपाय इस में बताया है। प्रभु की कृपा किस पर होती है और कैसे कर्म कर के हम प्रभु के प्यारे हो सकते हैं इत्यादि विषय पुस्तक में दार्शनिक गहराइयों के साथ सरल रूप में वर्णित हैं।

मूल्य प्रथम भाग ३), द्वितीय भाग ३)

ब्राह्मण की गौ

लेखक, श्री अभय विद्यालंकार। सच्चे ब्राह्मण की वाणी में क्या जादू-भरी शक्ति होती है, वह इस पुस्तक में पाठक देखेंगे। एक महाबली राजा के मुकाबले में एक गरीब ब्राह्मण को दिखाया गया है, जिस में कि अन्त में उस ब्राह्मण की वाणी की ही अनायास विजय होती है। महात्मा गांधी ने 'ब्राह्मण की गौ' को प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ कर इस की बड़ी प्रशंसा की है। वेद के पवित्र उपदेशों की यह स्वाध्याय पुस्तक (अथर्ववेद के ब्रह्मगवी सूक्त की व्याख्या) प्रत्येक सज्जन को अवश्य पढ़नी चाहिये।

मूल्य ।।।)

वैदिक ब्रह्मचर्यगीत

लेखक, श्री अभय विद्यालङ्कार। वेद में ब्रह्मचर्य की महिमा क्या बताई गई है, ब्रह्मचारी कौन होता है और ब्रह्मचारी में कितनी महान् शक्ति होती है—इस का वर्णन आप को इस पुस्तक

में मिलेगा। इस में अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त का एक-एक मन्त्र लेकर उस की विस्तृत व्याख्या की गई है और अन्त में शब्दार्थ दे दिया गया है। अपने जीवन को ऊंचा और सुखी बनाना चाहने वाले इसे अवश्य पढ़ें और अपने बच्चों के हाथ में इस की एक प्रति अवश्य दें। मूल्य २)

सन्ध्या रहस्य

दूसरा संस्करण। लेखक, प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार। उपासना का प्रत्येक धर्म में विशेष महत्व है। सृष्टि की सब से प्राचीन और सब से नवीन वेदोक्त उपासना का आनन्द निराला ही है। यदि आप सन्ध्या के गूढ़ रहस्य को हृदयंगम कर के इस अनिर्वचनीय आनन्द का आस्वादन करना चाहते हैं तो इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये। मूल्य २)

योगेश्वर कृष्ण

दूसरा संस्करण। लेखक, श्री चमूपति एम. ए.। बढ़िया चिकने कागज पर अभी छपा है। श्री कृष्ण के प्राप्त जीवन-चरित्रों में यह सब से प्रामाणिक जीवन-चरित्र है। अमर जीवन के दिव्यसंदेश को सुनाने वाले इस महान् पुरुष की जीवनी से मानव-समाज को सदा उद्बोधन मिलता रहा है। आप भी आज ही मंगा कर पढ़िये। मूल्य ४)

सोम सरोवर

लेखक, श्री चमूपति एम. ए.। यह ग्रन्थ सामवेद के पावमान पर्व का सुललित भाष्य है। इस पुस्तक का पाठ पाठक

के हृदय में कभी अद्भुत तरंग, कभी वीर तरंग और कभी शान्त तरंग प्रवाहित कर के हृदय को आलोकित कर देता है। इन्हीं तरंगों से अठखेलियां करता हुआ भक्त अपने प्रियतम उपास्यदेव के ध्यान में मग्न हो जाता है। सामवेद भक्तों के लिये भक्ति का स्रोत है। पाठक भक्तिरस के इस झरने का पयःपान करें, निश्चिन्तता से अध्ययन करें, मनन करें। पुस्तक की भाषा सजीव है। बढ़िया कागज, छपाई, सफाई उत्तम है।

मूल्य सजिल्द २), अजिल्द १॥)

वेद गीताञ्जली

इस में ढाई सौ के लगभग वेदमन्त्र, उनका अर्थ, और उन पर एक-एक सुन्दर हिन्दी कविता है। कविता मधुर स्वर में प्रार्थना के समय गाने योग्य है, अतः इन का स्थान-स्थान पर प्रचार भी हो रहा है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त, गिरिजा शंकर मिश्र, सन्तप्रसाद वर्मा, चमूपति, प्रियहंस, परमहंस, निरीह व निश्चिन्त आदि हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने इस गीताञ्जली के संकलन में सहयोग दिया है। पुस्तक की छपाई, सफाई बढ़िया है। मूल्य २)

धर्मोपदेश (तीन भाग)

यह पुस्तक श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के उच्च, गम्भीर आत्मा को उठाने वाले उपदेशों का संग्रह है। संग्रहकर्ता हैं श्री स्वामी जी के अनन्य भक्त लाला लब्भूराम जी नैय्यड़।

मूल्य प्रथम भाग १।), द्वितीय भाग १), तृतीय भाग १॥)

अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या

लेखक, पं० प्रियरत्न आर्य। 'अथर्ववेद में जादू टोने, तन्त्रमन्त्र, झाड़फूंक का विधान है' ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेद व अन्य वैज्ञानिक साधनों द्वारा सिद्ध किया है कि वस्तुतः जिन मन्त्रों को जादू टोना, तन्त्रमन्त्र आदि से सम्बद्ध किया जाता है वे सम्मोहनविद्या व चिकित्साशास्त्र के द्योतक हैं। मूल्य १॥)

वैदिक सूक्तियां

लेखक, श्री रामनाथ वेदालङ्कार। इस पुस्तक में अथर्ववेद की एक हजार छोटी-छोटी सूक्तियों का अर्थ सहित अनुपम संग्रह है। प्रभुस्तुति, ब्रह्मचर्य, निर्भयता, मधुरभाषण, सत्य, अतिथिसत्कार, राष्ट्रभक्ति, दीर्घायुष्य, गोपालन आदि विविध विषयों की सूक्तियाँ देखते ही बनती हैं। विद्यार्थियों, गृहस्थियों, अध्यापकों, उपदेशकों सब के काम की हैं। मूल्य १॥।)

वैदिक स्वप्नविज्ञान

लेखक, पं० भगवद्दत्त वेदालङ्कार। इस में वेद और उपनिषद् साहित्य में प्राप्य स्वप्न सम्बन्धी प्रसंगों को लेते हुए स्वप्नविज्ञान पर खोजपूर्ण प्रकाश डाला गया है। स्वप्न का स्वरूप, रात्रि और दिवास्वप्न, दुःस्वप्न और उस के विनाश का उपाय आदि महत्वपूर्ण विषयों का रोचक शैली से उद्घाटन किया है। वैदिक स्वप्न विषय पर यह प्रथम पुस्तक है।

मूल्य २)

वैदिक आध्यात्म-विद्या

लेखक, पं० भगवद्दत्त वेदालङ्कार। इस में वेदोक्त 'बलासुर' की आलङ्कारिक गाथा पर मनोरंजक शैली से प्रकाश डाला गया है। वेद, ब्राह्मणग्रंथ आदि में इस सम्बन्ध में जो सामग्री मिलती है उसे संकलित कर विशद स्पष्टीकरण किया है। पुस्तक प्रत्येक आध्यात्म प्रेमी के लिए संग्राह्य है। मूल्य १।)

आत्मसमर्पण

लेखक, पं० भगवद्दत्त वेदालङ्कार। वेद में प्रभु को आत्मसमर्पण करने का बहुत महत्व है। इस पुस्तक में योग्य लेखक ने उसी के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अग्नि, इन्द्र, सोम, अश्विनौ तथा सविता देवों का स्वरूप स्पष्ट कर उन देवों के समर्पण सम्बन्धी कतिपय मन्त्रों की सुन्दर व्याख्या की है। मूल्य १॥)

मिलने का पता—

प्रकाशन मन्दिर,

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार।

★

वैदिक-विनय

वर्षा ऋतु

(जगती छन्द)

वर्षा की ऋतुचर्या

लक्षण

जब ग्रीष्म की कठोर गर्मी से वाष्प बन कर ऊपर गये हुवे पृथ्वी के रस (जल) सूर्य के दक्षिणायन में हो जाने से फिर पृथ्वी पर जल बन कर बरसते हैं, उस काल को वर्षा ऋतु कहते हैं।

साधारणतः वर्षा के चार मास (चातुर्मास) प्रसिद्ध हैं—आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन। इन में से वर्षा ऋतु के मुख्य मास श्रावण और भाद्रपद ही समझने चाहियें।

महिमा

ग्रीष्म काल में मानो भूलोक तपस्या करता है, हमारी इस तपस्या को सफल करते हुवे मानो ऊपर से इन्द्र देव वर्षा के रूप में हम पर अमृत बरसा कर हमें कृत-कृत्य करते हैं। वर्षामृत पा कर गर्मी से झुलसे हुवे सब स्थावर और जंगम प्राणी, सब वनस्पतियां, पशु और मनुष्य नवीन प्राण से युक्त हो जाते हैं। वर्षा द्वारा भूलोक को दूसरी प्रकार का प्राण मिलता है। इसे रयिस्थ प्राण या अपान प्राण कहा जा सकता है। अन्न-जल ग्रहण करने से हमें जो प्राण मिलता है, वह वर्षा द्वारा ही आता है। अथर्ववेद के प्राण सूक्त में इस प्राण वर्षा का अति सुन्दर वर्णन है। अथर्ववेद ११-४-२, ३, ४, ५, ६। नवीन प्राण पा कर सब वृक्ष-वनस्पतियां हरी-भरी हो जाती हैं, पशु-पक्षी हरियावल

देख कर प्रसन्नचित्त होते हैं, मेंढक जैसे मट्टी में दबे जीव पुनर्जीवित हो जाते हैं, मयूर नाचने लगते हैं, मनुष्य तरावट पा कर हृष्ट होते हैं। जीवों का भोजन तैयार होता है। नदी जलाशय भर जाते हैं। प्राचीन काल में संन्यासी लोग इस ऋतु में भ्रमण करना छोड़ कर एक स्थान पर ठहर कर स्वाध्याय किया करते थे। आश्रमों में वेदपाठ शुरू हो जाते थे।

गुण

यह ऋतु शीतल, दाहकारक, (जठर) अग्नि को मन्द करने वाली तथा वातकारक है। इस ऋतु में सब प्राणियों के बल तथा जठराग्नि न्यून अवस्था में होते हैं।

पथ्यापथ्य

चूंकि ग्रीष्मकाल की लघुता और रूक्षता के कारण संचित वात इस ऋतु में गर्मी और ठंडक पा कर सहसा प्रकुपित हो जाता है, अतः इस ऋतु में वातनाशक अर्थात् मधुर, खट्टे और नमकीन रसों का सेवन करना उचित है। इस ऋतु में शरीर भींजा हुआ रहता है अतः उस की शान्ति के लिये तीक्ष्ण, कसैले और कड़ुवे रसों का सेवन भी करना चाहिए। चावल, जौ. गेहूँ, घृत, दूध, उड़द, गरम तथा स्निग्ध (वातनाशक) पदार्थों का उपयोग करना अच्छा रहता है। इस के विरुद्ध अति परिश्रम; रूक्ष तथा अति शीत पदार्थों का सेवन वातकारक होने के कारण न करना चाहिये। नदी-तालाबों के (मलिन हुए) जल का भी पान नहीं करना चाहिये।

पर इस ऋतु में गर्म तथा स्निग्ध चीज़ों का बहुत अधिक प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। इस ऋतु में अम्लविपाकी (खट्टे) जल तथा ऐसी अन्य औषधि सेवन करने से पित्त का संचय होता है, और यद्यपि वह वर्षा की नमी के कारण इस समय प्रकुपित नहीं हो पाता तथापि चूंकि वह शरद् में प्रकुपित होता है अतः यदि इस ऋतु में गर्म तथा स्निग्ध पदार्थों का बहुत अधिक सेवन किया जायगा तो शरद् के प्रारम्भ में पित्त का बहुत अधिक प्रकोप होगा।

इस ऋतु में आकाश के मेघाच्छन्न रहने से मनुष्यों का जिगर (यकृत्) अच्छी प्रकार काम नहीं करता है, अतः ऐसे गरिष्ठ भोजन न खाने चाहियें जिन से जिगर को अधिक काम करना पड़े। इसी लिये पुराने लोग वर्षा के दिनों में दिन में एक बार भोजन किया करते थे। इस ऋतु में व्यायाम करना हितकर है। शरीर से पसीना निकलवाना तथा मालिश करना भी लाभदायक होता है।

कहावत के अनुसार श्रावण मास में दूध और पत्तों का साग खाना निषिद्ध है, क्योंकि इन दिनों में पशुओं का दूध पतला हो जाता है तथा पत्तों के सागों में भी पानी बहुत मात्रा में हो जाता है। भाद्रपद में छाछ (मट्ठा) का पीना भी निषिद्ध है, क्योंकि इन दिनों में मट्ठा बहुत तेज़ हो जाता है।

★

श्रावण मास

श्रावण (कर्क)

[श्रावण के लिये प्राणदायक व्यायाम—हृदय, पीठ और रीढ़ की स्वस्थता करने वाला]

प्रारम्भिक स्थिति में खड़े हो जाइये, हाथ नीचे लटके हों और छाती आगे उभरी हुई हो । हथेलियां शरीर के साथ लगी हों । अब कटि-प्रदेश को चूल बना कर ऊपर के शरीर को क्रमशः दांये और बांये को झुकाइये । दांयी तरफ झुकाते समय बांये हाथ को यहां तक ऊपर उठाइये कि उस की अंगुलियां बगल तक पहुँच जायें और बांयी तरफ झुकाते हुवे दांये हाथ को इसी तरह ऊपर उठाइये । इस व्यायाम के लिये मांसपेशियां ढीली छोड़ दी जा सकती हैं । जब शरीर सीधा किया जा रहा हो तब श्वास अन्दर लीजिये और जब किसी तरफ झुकाया जा रहा हो तो श्वास बाहर निकालिये । इस व्यायाम को १०, १२ वार कीजिये ।

इस मास के लिये दूसरा व्यायाम निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

पीठ के बल भूमि पर सीधा लेट जाइये, दोनों हाथ सिर के नीचे लगे हों । सारे शरीर की मांसपेशियां पूरी तरह तान लीजिये । एक ऐसा पूर्णश्वास धीरे-धीरे अन्दर भरिये कि पेट और फेफड़े सब भर जायें और अधिक से अधिक फूल जायें । उस के बाद अन्दर रोके श्वास को धीरे-धीरे ऐसा बाहर निकालिये कि छाती और पेट बिल्कुल खाली हो जायें । अब मांस-

पेशियों को ढीला छोड़ दीजिये और व्यायाम फिर कीजिये ।

इन व्यायामों को करते हुवे हृदय और रीढ़ (मेरुदण्ड) को सर्वथा स्वस्थ, नीरोग, अवस्था में ध्यान कीजिये ।

ध्यान

मेरा हृदय दृढ़ता और पूर्णता से काम कर रहा है । यह मेरा एक-एक गहरा श्वास हृदय को ऐसा चैतन्ययुक्त कर रहा है कि उस से मेरा शरीर का एक-एक घटक उत्तम पुष्टि पाये बिना नहीं रह सकता । इसी तरह रीढ़ के विषय में ध्यान कीजिये ।

इन अङ्गों को गौणतया वैशाख, कार्तिक और माघ की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है ।

☆

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽ-
कृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुह-
मीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ।।

ऋ. १०. ४४. ६ । अ. २०. ६४. ६ ।

विनय

भाइयो ! इस संसार-सागर से हमें तरा सकने वाली नौका यज्ञमयी ही है । हम यदि यज्ञकर्म नहीं करेंगे तो हम न केवल मनुष्यत्व से ऊपर नहीं उठ सकेंगे किन्तु अपने मनुष्यत्व को कायम भी नहीं रख सकेंगे, तब हमें नीचे पशुत्व में अधःपतित होना पड़ेगा । देखो, बहुत से 'देव-हूति' पुरुष उन देवलोक, पितृलोक, ब्रह्मलोक आदि दुष्प्राप्य यशोमय उच्च लोकों को पहुंच गये हैं; बड़े भारी यत्न से इस मनुष्यावस्था को तर कर देव हो गये हैं । ये लोग यज्ञिय नाव पर चढ़ कर ही वहां पहुंचे हैं । इन्होंने अपने में देवों का, दिव्यताओं का, आह्वान किया है और 'प्रथम' बने हैं । दूसरी तरफ देखो, वे दुर्भागे मनुष्य हैं जो थोड़ा सा स्वार्थत्याग न कर सकने के कारण,

अयज्ञिय हो ऋणबद्ध रहने के कारण उस नाव का आश्रय नहीं पा सके हैं, अतः यहीं बंधे पड़े रह गये हैं। ये बिचारे 'केपि' कुत्सिताचरणी लोग यहां भी नीचे धंसते जा रहे हैं, पशुत्व में गिर रहे हैं। इन का फिर पवित्र बनना अब अत्यन्त कठिन हो गया है। अतः आओ, मनुष्य योनि पा कर हम कुछ न कुछ तो स्वार्थत्याग करें, इतना यज्ञ कर्म तो करें कि ऋणबद्ध न बने रहें। हम पर जो माता पिता, गुरु, समाज, राष्ट्र, मनुष्यता, प्रकृतिमाता और परमेश्वर आदि के ऋण हैं उन्हें उतारने के लिए तो अपने स्वार्थों का नित्य हवन किया करें। हम यदि इतना करेंगे, केवल परमावश्यक पञ्चयज्ञों को यथाशक्ति करते रहेंगे तो भी हम इस यज्ञिय नौका पर चढ़ सकेंगे और देवयान लोकों को नहीं तो कम से कम पितृयाण लोकों को तो जा पहुंचेंगे, अपने मनुष्यत्व को तो नहीं खो देवेंगे। भाइयो! यज्ञ-मयी नौका खड़ी है। हम चाहें तो देवहूति हो कर, दिव्यस्वभाव धर्मशील हो कर, इस नौका द्वारा इस दुस्तर सागर को तर कर ज्ञानैश्वर्यमय उच्च से उच्च लोकों तक पहुंच सकते हैं; नहीं तो फिर यदि हम इस नौका में स्थान न पा सके तो हम ऐसी खराब परिस्थिति में आ पड़ेंगे, और वहां ऐसे निर्लज्ज बन जायेंगे कि हम कुत्सित अपवित्र कर्मों के करने में ही सुख पावेंगे और नीचे ही नीचे गिरते जायेंगे; फिर हमारे उद्धार का दूसरा अवसर कितने काल बाद आवेगा यह कौन जानता है? तब हमारे उस पापयोनि-चक्र से निकलने का, इस यज्ञिय नौका में फिर आश्रय पा सकने का दूसरा अवसर कब आवेगा, यह कौन कह सकता है?

शब्दार्थ—

(प्रथमाः) जो प्रथम प्रकार के या विस्तृत ज्ञानी (देवहूतयः) देवों अर्थात् दिव्य गुणों का आह्वान करने वाले मनुष्य होते हैं वे (पृथक्) जुदा ही (प्रायन्) प्रकृष्ट मार्ग से—अपने-अपने लोकों को—पहुँचते हैं। वे (दुष्टरा) बड़े दुस्तर (श्रवस्यानि) ज्ञानैश्वर्यों को, श्रवणीय यशों को (अकृण्वत) प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु (ये) जो (यज्ञियां नावं) इस यज्ञमयी नाव पर (आरुहं) चढ़ने में (न शेकुः) समर्थ नहीं होते (ते) वे (केपयः) कुत्सित, अपवित्र आचरण वाले हो कर (ईर्मा एव) यहीं, इसी लोक में (न्यविशन्त) नीचे-नीचे जाते हैं।

२ श्रावण

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद् धनं
न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु
न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥

ऋ. १०. ४८. ५।

विनय

मैं इन्द्र आत्मा हूँ। मैं कभी भी हराया नहीं जा सकता हूँ। मेरा ऐश्वर्य कभी भी छीना नहीं जा सकता है। प्रकृति के साथ मेरी लड़ाई ठनी है। प्रकृति मेरे ऐश्वर्य को छीनना

चाहती है, पर मैं प्रकृति के साथ लड़ी गई अपनी प्रत्येक लड़ाई में विजयी होता हूं और जितना-जितना विजयी होता जाता हूं उतना-उतना मुझ में मेरा नया-नया ऐश्वर्य प्रकट होता जाता है। मैं कभी भी प्रकृति से हार नहीं खा सकता हूं। ऐसा क्यों न हो ? मैं तो मौत को भी खा जाने वाला हूं। सब दुनियां को खाने वाली मौत भी मेरे सामने नहीं ठहर सकती है। मैं अमर आत्मा हूं। मृत्यु से बढ़ कर और किस हथियार से प्रकृति मुझे जीतेगी ? हे मनुष्यो ! तुम मेरे पास खड़े हो कर देखो और बोलो—'मैं अमर हूं, मैं अमर हूं'। तुम कहां प्रकृति की मोहनी मूर्ति के सामने ऐश्वर्यों के लिए गिड़गिड़ाते फिरते हो ? यह माया तुम्हें धोखा ही दे सकती है। ऐश्वर्य नहीं दे सकती। इस से जो कुछ ऐश्वर्य मिलते तुम्हें दीखते हैं वे सब वास्तव में मेरी शक्ति से ही मिलते हैं। इस लिए आओ, मनुष्यो ! तुम मुझ से ऐश्वर्य मांगो। मैं तुम्हें सब कुछ दूंगा। पर शर्त है। सोम का सवन करते हुवे यथार्थ कर्म करते हुवे—ही तुम मुझ से ऐश्वर्य मांगो। संसार में सच्चा सोम का रस आत्म-ज्ञान ही है—सच्चा ज्ञान, भक्ति-भरा आत्म-ज्ञान ही है। इस ज्ञान के निष्पादन करने में सहायक तुम्हारे जितने कर्म हैं वे सब सोम-सवन ही हैं। ये यज्ञार्थ कर्म हैं। ये यज्ञ-कर्म तुम्हें अमर बनाते हैं, तुम्हें मुझ आत्मा के पास लाते हैं, ये 'आत्म-विशुद्धये'[1] होते हैं। अतः खूब यत्न उद्योग के साथ इस सोम का सवन करते हुवे तुम मुझ से जो कुछ मांगोगे वह मैं तुम्हें जरूर दूंगा। अरे !

---

१. गीता ५. ११।

तुम्हें एक के बाद एक अनमोल ऐश्वर्य मिलता जायगा। तुम कहां इस माया के पीछे पड़े हुवे ठीकरियां बटोर रहे हो ! मुझ से तुम अन्दर का खज़ाना क्यों नहीं मांगते ? हे मनुष्यो ! तुम मुझ आत्मा से मैत्री करो तो तुम विनाश से पार हो जाओगे। इन प्रकृति के गुणों से बहुत दिन दोस्ती कर ली। मुझ से मैत्री कर के देखो। यह दावा है कि मेरे मित्र का इस संसार में कोई नाश नहीं कर सकता। आओ ! मेरे पास आओ ! मैं अमर आत्मा तुम्हें अमर बना दूंगा।

हे नर-तन पाने वालो ! सुनो। तुम्हारे ही आत्मा का यह सिंहनाद है। तुम्हारा आत्मा गरज रहा है, सुनो !!

शब्दार्थ--

(अहं इन्द्रः) मैं आत्मा हूं (धनं न पराजिग्ये इत्) मैं ऐश्वर्य को कभी हार नहीं सकता हूं। (मृत्यवे न कदाचन अवतस्थे) मृत्यु कभी भी मुझे नहीं आ सकती है। (पूरवः) हे मनुष्यो ! (सोमं सुन्वन्तः इत् मा वसु याचत) यज्ञार्थ कर्म करते हुवे ही मुझ से ऐश्वर्यों को मांगो। (मे सख्ये न रिषाथन) मेरी मैत्री--सख्य--में रहते हुवे तुम भी नष्ट नहीं होवोगे।

३ श्रावण

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो-

ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।

देवा नो यथा सदमिद् वृधे अस-
न्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥

ऋ. १. ८९. १ । य. २५. १४ ।

विनय

'मनुष्य क्रतुमय (संकल्पमय) है, अतः मनुष्य को क्रतु अर्थात् संकल्प व अध्यवसाय करना चाहिये'[१] । पर वह संकल्प हम किस प्रकार से करें ।

पहिले तो हमारे क्रतु (संकल्प) 'भद्राः' होने चाहियें । हम श्रेष्ठ संकल्प ही करें—कल्याणकारी संकल्प ही करें । जो अभद्र संकल्प हैं उन्हें देवता स्वीकृत नहीं करते हैं, अतएव उन से कुछ बनता नहीं । इसलिये हमारा यह आग्रह हुवा है कि हमारे पास शुभ ही संकल्प आवें, जिस से देवता अर्थात् संसार को चलाने वाली ईश्वरीय शक्तियां हमें उन्नत करती रहें । परन्तु संकल्पों के केवल शुभ होने से भी काम नहीं चलेगा. ये हमारे शुभ संकल्प बलवान् होने चाहियें । ये 'अदब्ध' होवें, किसी विरोधी शक्ति से दबने वाले न होवें । और फिर ये संकल्प उद्भेदन करने करने वाले हों अर्थात् मार्ग की सब विघ्न-बाधाओं का उद्भेदन करते हुवे, सब गुत्थियों को सुलझाते हुवे और सब बन्द किवाड़ों को खोलते हुवे सफलता तक पहुँचाने वाले हों । हमारे शुभ संकल्पों में ऐसा बल भी चाहिए । और ये संकल्प (परीत) पहिले से घिरे हुवे भी अर्थात् किसी बड़ी अच्छाई के

---

१ छान्दोग्य उपनिषद् ३. १४. १ ।

विरोधी भी नहीं होने चाहियें, हमारे संकल्प किसी भी महान् सिद्धान्त में दस्तन्दाज़ी करने करने वाले भी न होने चाहियें। यदि ऐसा होगा तो भी हमारे संकल्प जगत् के देवों द्वारा प्रतिहत हो जायेंगे, मारे जायेंगे। इसलिये आज से हम में शुभ और ऐसे बलवान् संकल्प ही आवें जिस से कि (इन संकल्पों के ईश्वरीय नियमों के अनुकूल होने के कारण) देवता हमारी सदा उन्नति कराते जायें और दिन रात अप्रमाद हो कर हमारे रक्षक बने रहें। प्रभु के ये देव तो हमारी उन्नति के लिये ही हैं और निरन्तर बिना भूलचूक के हमारी रक्षा करने को तैयार हैं। पर हम ही बड़े-बड़े अभद्र संकल्प कर के या यूं ही निर्बल से बहुत से संकल्प कर के ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि इन देवों की बड़ी भारी सहायता पाने से अपने आप को वञ्चित कर लेते हैं। इसलिये आज से केवल भद्र निश्चय ही हम में आवें तथा न दबने वाले, उद्भेदन करते हुवे चले जाने वाले और अपरीत, महान भद्र निश्चय ही हम में आवें और चारों ओर से आवें, जिस से कि हम जगत् के शासक देवताओं की अनुकूलता में ही सदा बढ़ते हुवे जीवन मार्ग पर चलते जायें।

शब्दार्थ—

(नः भद्रा क्रतवः विश्वतः आयन्तु) हमारे पास श्रेष्ठ ही संकल्प सब तरफ से आवें (अदब्धासः) जो कि कभी न दबने वाले हों, (अपरीतासः) जो कि किसी से घिरे हुवे न हों, (उद्भिदः) और जो उद्भेदन करने वाले हों, (यथा देवाः न सदमिद् वृधे असन्) जिस से कि देवता हमारे लिए सदा उन्नति के लिए

होवें, (दिवे दिवे अप्रायुवो रक्षितारश्च आसन्) और प्रतिदिन प्रमाद रहित हो कर हमारे रक्षक होवें ।

४ श्रावण

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि
श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने ।
यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो
निवेशने प्रसवे चासि भूमनः ।।

ऋ. ६. ७१. २. ।

विनय

सब जगत् की स्थिति करने वाले और सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले तुम ही हो । ये जो जगत् में असंख्यों चेतन प्राणी दिखाई देते हैं--जो दो पैर वाले मनुष्य विचरते हैं या जो चार पैर पर ये 'पशु' नामक प्राणी फिरते हैं—इन सब की स्थिति व पालन करने वाले तुम हो, तुम ही इन सब के पैदा करने वाले भी हो । यह अखिल ब्रह्माण्ड तुम से शुरू हुवा है, और तुम्हारे ही अखण्ड शासन में चल रहा है। इस अपरिमेय संसार में जो हिलना-जुलना हो रहा है, जो इस में एक-एक चेष्टा, एक-एक क्रिया हो रही है उस के आदि प्रवर्तक तुम हो । हवा द्वारा जो एक तिनका भी हिलता है वह तुम्हारी आज्ञा से हिलता है । इसलिए हे सर्वप्रेरक देव ! हे सवितः ! हमारी तुम से एक

प्रार्थना है। हम चाहते हैं कि हम सदा तुम्हारी श्रेष्ठ प्रेरणा में होवें और तुम्हारे ऐश्वर्यों के श्रेष्ठ दान में होवें। इस जगत् में जो कुछ श्रेष्ठ व अश्रेष्ठ हो रहा है, वह सब कुछ तुम्हारी ही दी हुई शक्ति से हो रहा है। पर हम चाहते हैं कि हमारे शरीरों से, मनों से, वाणियों से जो कुछ भी हरकत होवे वह सब श्रेष्ठ ही होवे। हमारे शरीरों, मनों द्वारा तुम्हारी श्रेष्ठ प्रेरणा का ही प्रवाह बहे। अच्छा बुरा सब प्रकार का सब ऐश्वर्य बेशक तुम द्वारा ही संसार में बरस रहा है, पर हमें तुम्हारे ऐश्वर्य का श्रेष्ठ दान ही मिले। संसार में बुरी कमाई से पैदा हुवा और बुरे काम में उपयुक्त होने वाला ऐश्वर्य भी होता है तथा अच्छी कमाई का और सदुपयोग होने वाला श्रेष्ठ ऐश्वर्य भी होता है। हमारे पास यह दूसरा ऐश्वर्य ही होवे। यह ऊँचा-नीचा, अच्छा-बुरा, उत्तम-अधम जो यह नाना प्रकार का संसार है यह समग्र ही विश्व तुम्हारी विभूति है। हम चाहते हैं हम तुम्हारी ऊँची विभूति के अंश बनें। अपने को उच्च बनाने के लिए जिन-जिन साधनों को जानते हैं उन्हें हम बड़े यत्न से कर रहे हैं, अपने को अधिकारी बना रहे हैं। इसलिए हमें तुम श्रेष्ठ प्रेरणा का पात्र बनाओ और हमें श्रेष्ठ प्रेरणा करो। हमें श्रेष्ठ ऐश्वर्य का पात्र बनाओ और श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान करो।

शब्दार्थ—

(यः विश्वस्य द्विपदः) जो तू सब दो पैर वालों तथा (चतुष्पदः) चार पैर वाले जीवों का (निवेशने असि) आश्रय देने वाला है, (भूमनः प्रसवे च [असि]) और बड़े भारी

संसार को प्रेरणा देने वाला है, (सवितुः देवस्य) उस तुझ प्रेरक देव के (श्रेष्ठे सवीमनि) श्रेष्ठ प्रेरणा में (वयं स्याम) हम होवें, (वसुनश्च) तथा तेरे ऐश्वर्य के ([श्रेष्ठे] दावने) श्रेष्ठ दान में हम होवें।

५ श्रावण

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि
सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति
तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः॥

ऋ. ५. ३४. ३।

विनय

मैं इन दो प्रकार के आदमियों में से कौन सा हूँ? क्या मुझे दिन रात भगवान् के भजन में मस्त रहने में मज़ा आता है? क्या मैं उस के भजन में चौबीस घंटे रहता हूँ? चौबीस घंटे न सही, क्या मैं दिन रात में से एक-आध घंटा भी भगवान् के प्रति अपना हार्दिक प्रेमरस पहुंचाने में बिताता हूँ? अथवा मैं "ततनुष्टि" हूँ? दिन रात विषयों में फंसा रहता हूँ? न ख़तम होने वाले विषयों की तृप्ति में लगा रहता हूँ? स्वार्थ के लिये धन कमाने की फिक्र में, और धन के लिये दूसरों के क्लेशों की कुछ परवाह न कर के और धोखा-फरेब भी कर के

उन के चूसने की नाना नई-नई तरकीबें सोचने और करने की फ़िक्र में तो कहीं मेरे दिन रात नहीं बीतते हैं ? क्या अपने शरीर की शोभा बढ़ाने, संवारने, सिंगार करने में ही जीवन के अमूल्य समय के प्रतिदिन कई घण्टे मैं नहीं खो रहा हूँ ? क्या मैंने अपने अन्दर के मानसिक शरीर को भी बलवान् स्वच्छ और सुन्दर (पवित्र) करने का भी कभी यत्न किया है ? इस के लिये समय दिया है ? मेरे साथी-संगी कैसे लोग हैं ? कहीं मेरे इर्द-गिर्द बुरे आचरण वाले लोग तो नहीं इकट्ठे हो गये हैं ? कहीं मैं कुत्सित कर्म करने वाले दुष्ट मनुष्यों से (जो ऊपर से आकर्षक होते हैं) मिलने-जुलने में आनन्द तो नहीं पाता हूँ ? ओह, उस सर्वशक्तिमान् इन्द्र के नियम अटल हैं, मैं जैसा करूँगा वैसा ही मुझे भरना पड़ेगा । मैं तेजस्वी बनूंगा या मेरा विनाश होगा ? भगवान् तो दिन रात सोम सेवन करने वालों को तेजस्वी बना रहा है और विषय-ग्रस्त पुरुषों का नाश कर रहा है ।

शब्दार्थ—

(यः) जो (ग्रंसे उत वा यः ऊधनि) दिन होवे या रात सदैव ही जो (अस्मै) इस परमेश्वर के लिए (सोमं सुनोति) ज्ञानपूर्वक भक्ति में रहता है; यजन करता है, (अह द्युमान् भवति) वह निश्चय से तेजस्वी—प्रकाशवान्—हो जाता है । और इस के विपरीत (ततनुष्टिं) विषयों में दिनों दिन फंसते जाने वाले को, स्वार्थरत अयजनशील को, (तनूशुभ्रं) शरीर की सजावट बनावट में लगे रहने वाले को, (यः कवासखः) और जो बुरी संगत में रहने वाला है, जिस के यार दोस्त कुत्सित-

कर्मा लोग हैं, उस पुरुष को भी (शक्रः मघवा) सर्वशक्तिमान् ऐश्वर्य वाला इन्द्रदेव (अप अप ऊहति) मिटा देता है, विनाश कर देता है।

६ श्रावण

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन्
ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किंचन
न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु॥

य. १७. १४।

विनय

क्या तुम उन पूर्ण देवों को भी जानते हो जो कि देवों में भी और ऊंचे देव होते हैं और जिन के कि हाथ में इस महान् संसार की बागडोर रहती है? ये वे मुक्तात्मा हैं जो कि मुक्त हो कर भी जगत् के कल्याण में रत होते हैं। ये देवत्व का भी बन्धन छोड़ कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हो जाते हैं, ब्रह्माण्ड की आत्मा से अपनी आत्मा को मिला कर देवों से भी ऊपर 'पूरे-देव' हो जाते हैं। यह सब संसार जो अपनी परम आत्मा की तरफ धीरे-धीरे जा रहा है उस में ये ही अग्रणी हैं। उस परम आत्मा के सब से निकटस्थ साधन बन कर ये ही इस संसार का सञ्चालन कर रहे हैं। संसार में जो ईश्वरीय शक्तियां जीवों को

असत् से सत् की तरफ, तम से ज्योति की तरफ, और मृत्यु से अमृत की तरफ ले जा रही हैं, एक शब्द में जो शक्तियाँ हरदम इस संसार को पवित्र कर रही हैं, वे शक्तियां इन्हीं पूर्ण देवों के आनन्दमय व विज्ञानमय आदि केन्द्रों से प्रवाहित हो रही हैं। इस का यह मतलब नहीं कि ये देव किसी ख़ास स्थान पर रहते हैं, जैसे कि साधारण देव लोग द्युलोक (प्रकाशमय लोक) में रहते हैं। ये किसी जगह भी नहीं रहते, पर शक्तिप्रवाह करने के लिये किसी जगह अपना केन्द्र बना सकते हैं। इन के बिना कोई भी स्थान (धाम) पवित्र नहीं हो सकता, पर ये किसी स्थान पर रहते नहीं हैं। ये तो ब्रह्म में रहते हैं। सब ब्रह्माण्ड में रहते हैं। अपने शक्तिप्रवाह से सब ब्रह्माण्ड को पवित्र कर रहे हैं। ये न तो द्युलोक के किन्हीं प्रान्तों में मिलेंगे, न पृथिवी के किन्हीं कोनों में मिलेंगे। पर इस संसार का कोई धाम, कोई क्षेत्र, कोई भी लोक ऐसा नहीं है जिस की कि पवित्रता इन द्वारा न हो रही हो।

इन परम देवों को हम बद्ध जीवों का बार-बार नमस्कार हो, अवनतशिर हो कर बार-बार नमस्कार हो।

शब्दार्थ—

(ये देवाः) जो देव (देवेषु अधि) देवों के बीच में भी (देवत्वं) और ऊंचे देवत्व को (आयन्) प्राप्त हुवे हैं, (ये) जो (अस्य ब्रह्मणः) इस बृहत् संसार के (पुरः एतारः) आगे चलने व चलाने वाले हैं, (येभ्यः ऋते) और जिन के बिना (किंचन धाम) कोई भी धाम, कोई भी स्थान (न पवते) पवित्र

नहीं होता, (ते) वे पूर्ण देव (न दिवाः स्नुषु अधि) न तो द्युलोक के किन्हीं प्रान्तों में रहते हैं (न पृथिव्याः) और न पृथिवी के ।

७ श्रावण

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो
वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे ।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमे
ऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥

ऋ. १.९४.१३ ।

विनय

हे प्रभो ! हम चाहते हैं कि हम तेरी विस्तीर्णतम शरण में रहने लगें। तेरी शरण इतनी फैली हुई है कि उस में आकर मनुष्य किसी भी देश में व किसी भी काल में दुःख नहीं पा सकता। संसार की और किसी भी वस्तु का आश्रय ऐसा नहीं है। और सब सुख, और सब आश्रय, और सब शरणें इस के सामने अत्यन्त तुच्छ हैं। क्योंकि संसार के सब देवों के भी देव तुम हो। सब देवों में देवत्व तुम्हारे द्वारा ही आया है। तुम्हारे आश्रय बिना इन अग्नि आदि महान् दीखने वाले देवों में कुछ नहीं है। इन सब बसाने वालों के बसाने वाले तुम हो। धनों के धन तुम हो। तुम्हें पाकर और सब धन बेकार

हो जाते हैं। सब पुण्य यज्ञों के अन्दर तुम ही शोभायमान होते हो। यज्ञों का सौन्दर्य तुम हो! तुम्हारे बिना कोई यज्ञ यज्ञ नहीं रह सकता। और तुम अद्भुत मित्र हो। ओह! ऐसा मित्र कौन हो सकता है। यदि सर्वशक्तिमान् और तीनों कालों का जानने वाला मित्र किसी को मिल सके तो उसे और क्या चाहिए! इसी लिये अब हम तेरे सख्य में (मैत्री में) आना चाहते हैं। हम ने तुझे देवों का देव, वसुओं का वसु समझ लिया है। अतः हमें अब किसी अन्य देव व वसु की प्राप्ति की चाहना नहीं रही है। हम ने तुझे "सब यज्ञों का सौन्दर्य" रूप में देख लिया है; अतः हमें अब किन्हीं कर्मकाण्ड मय यज्ञों के करने में आकर्षण नहीं रहा है, तेरे निरन्तर ध्यान का यज्ञ ही सर्व-श्रेष्ठ लगता है। और हम ने तुझे अद्भुत मित्र देखा है—ओह! ऐसा अद्भुत ऐसा विलक्षण!! तुम सर्वज्ञ सर्वसमर्थ मित्र की अद्भुतता दूसरे न जानने वाले को कैसे समझायी जावे, ओह! तुम कैसी विलक्षणता से हम सब के साथ आठों पहर, हर घड़ी, हर पल परम मित्रता निभा रहे हो। तुम ऐसे अद्भुत मित्र को देख कर अब हमें और किसी की मैत्री की ज़रूरत नहीं है। अरे, वे अनजान लोग हैं जो संसार में और किसी की मैत्री पाने के लिए टक्कर मारते फिरते हैं। तेरी विस्तृत शरण में तो और सब शरणें समा जाती हैं। अतः हे स्वामी! हमें तू अपनी मैत्री प्रदान कर, तब हमें कोई ख़तरा न रह सकेगा। हे प्रभो! तू हमें अनन्त अपार शरण में जगह दे दे तब हमें किसी विनाश का भय न रह सकेगा।

शब्दार्थ—

(अग्ने) परमेश्वर ! (देवानां देवः असि) तू देवों का देव है, (अद्भुतः मित्रः) अद्भुत मित्र है, (वसूनां वसुः असि) तू सब वसुओं का वसु, धनों का धन है, (अध्वरे चारुः) यज्ञ में तू शोभायमान है। अतः हम चाहते हैं कि (वयं) हम (तव) तेरी (सप्रथस्तमे शर्मन्) विस्तीर्णतम शरण में (स्याम) होवें, और (तव सख्ये) तेरे सख्य में (मा रिषाम) हम नष्ट न होवें।

•

८ श्रावण

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः
तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥

य. ३४. ५५ ।

विनय

हे शरीरी ! तुझे यह शरीर किस लिये मिला है ? क्या तू जानता है कि यह शरीर भगवान् ने तुझे यज्ञ करने के लिए दिया है ? यह देह पवित्र यज्ञशाला है। इस में बैठे हुवे सात ऋषि उस भगवान् का यजन कर रहे हैं। आंख देख रही है,

कान सुन रहा है, नासिका सूंघ रही है, त्वचा स्पर्श कर रही है, जिह्वा रस ले रही है, मन मनन कर रहा है और बुद्धि निश्चय कर रही है। ये सातों ऋषि शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श का ज्ञान करते हुवे, मनन और अवधारण करते हुवे, अपनी इन ज्ञान क्रियाओं द्वारा भगवान् का यजन कर रहे हैं। ये ज्ञानशक्तियां हमारे अन्दर भगवद्यजन के लिए ही रखी गई हैं। हमारी प्रत्येक ज्ञान-प्राप्ति भगवत्प्राप्ति के लक्ष्य से ही होनी चाहिये। और इन सातों ज्ञानेन्द्रियों (बाह्य और अन्दर के कारणों) के साथ एक-एक प्राण शक्ति भी काम कर रही है, जिन्हें सात शीर्षण्य प्राण कहते हैं। ये सात प्राण इस 'सद' की, इस यज्ञ-शाला की रक्षा, पूरी सावधानता के साथ, बिना प्रमाद किये, कर रहे हैं। इस तरह इस यज्ञशाला में निरन्तर यह यज्ञ चल रहा है। हम हमेशा कुछ न कुछ ज्ञान (अनुभव) करते रहते हैं, देखते, सुनते या मनन आदि करते रहते हैं। स्वप्नावस्था में भी यह देखना, सुनना बन्द नहीं होता। पर हां, सुषुप्ति अवस्था में जब कि इन सात ऋषियों के 'आपः' (ज्ञान प्रवाह) सुषुप्ति के लोक में लीन हो जाते हैं, हमें कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा होता, तब क्या यह यज्ञ भङ्ग हो जाता है ? नहीं, तब भी दो देव जागते हैं। ये दोनों देव कभी भी सोने वाले नहीं, इन्हें कभी नींद दबा नहीं सकती। अतः ये 'सत्रसदौ' तब भी यज्ञ में बैठे हुवे जागते रहते हैं। ये हैं (१) आत्म-चैतन्य और (२) प्राण। इन सात ऋषियों को दर्शन शक्ति देने वाला देव एक है और इन रक्षक प्राणों को प्राणशक्ति देने वाला दूसरा है। ये दोनों देव—ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति के देव—तब भी जागते रहते हैं और

ज्ञान और कर्म द्वारा चलने वाले इस यज्ञ की इन दोनों शक्तियों को निरन्तर कायम रखते हैं, बल्कि पुष्ट करते रहते हैं। इस तरह यह यज्ञ चौबीसों घण्टे निरन्तर चलता है, सौ वर्ष तक चलता रहता है, जब तक जीवन है तब तक चलता रहता है।

पर क्या हम इस शरीर-यज्ञशाला को यज्ञशाला की तरह पवित्र रखते हैं ? कहीं यज्ञ करने वाले ये सात ऋषि ज्ञानक्रिया द्वारा भगवद्‌यजन करना छोड़कर अपने ऋषित्व से भ्रष्ट तो नहीं हो जाते ?

शब्दार्थ—

(शरीरे सप्त ऋषयः प्रतिहिताः) शरीर में सात ऋषि स्थापित हुवे हैं (सप्त सदं अप्रमादं रक्षन्ति) सात हैं जो कि इस सद [स्थान, यज्ञशाला] की प्रमाद रहित होकर रक्षा करते रहते हैं। (स्वपतः सप्त आपः लोकं ईयुः) सुषुप्तावस्था में ये सात ज्ञानप्रवाह अपने लोक में लीन हो जाते हैं, (तत्र च) तो वहां भी (सत्र-सदौ) यज्ञ में बैठे रहने वाले (अस्वप्नजौ) कभी न सोने वाले (देवौ) दो देव (जागृतः) जागते रहते हैं।

६ श्रावण

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भाग-
मनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः
स मा धीरः पाकमत्राविवेश ॥

ऋ. १. १६४. २१। अ. ६. ६. २२।

विनय

मनुष्य एक कच्चे घड़े के समान है, जब तक कि वह आत्मज्ञान की अग्नि में पक नहीं जाता। मैं कच्चा घड़ा इस संसार-सागर में पड़ा हुआ घुल रहा हूँ, नष्ट होता जा रहा हूँ। हे जगदीश्वर! यदि तुम्हारे ज्ञान की आँच मुझे शीघ्र पका न देगी तो मैं जल्दी ही ख़तम हो जाऊंगा। मैं अभी तक 'पाक' हूँ, पक्तव्य हूँ, कच्चा हूँ, । तुम पक्व हो, विपक्वप्रज्ञ हो। तुम शीघ्र मुझमें प्रवेश करो। तुम अमृत हो, मैं अभी तक मर्त्य हूँ। तुम इस भुवन के ईश्वर हो, मैं अनीश हूँ। जिस दिन मुझे आत्मा का ज्ञान हो जायगा, अपनी अमरता का भान हो जायगा तो मैं भी पक जाऊंगा। आत्मज्ञानी, अमर, परिपक्व होकर तो मैं संसार में पड़ा हुआ भी गल नहीं सकूंगा। मुझमें प्रविष्ट होकर मुझे अमर करदो, पका दो। इस कच्चे घड़े में (शरीर में) यद्यपि इन्द्रियाँ लगातार कुछ न कुछ ज्ञान लाती हुई चल रही हैं, पर उनके लाये हुवे ज्ञान में—जुगनू के से तुच्छ प्रकाश में वह अग्नि नहीं है जो मुझे पका सके। सच तो यह है कि वे इन्द्रियाँ जिस पूर्ण अमर ज्ञान के एक अंश को अपने वेदन में लाती हैं उसकी अभिलाषा अब मुझे लग गई है। उन्हीं द्वारा पता लगा है कि कोई अमृत ज्ञान भी है जिसके द्वारा मैं पूरा पक सकता हूं। इन्द्रियों में जो वेदन है वह तुम्हारे ही अपार ज्ञान, अनन्त चैतन्य से आता है। यह समझ आ जाने पर आज ये इन्द्रियां मेरे लिये जो कुछ ज्ञान लाती हैं उनमें मुझे अमरता का ही सन्देश सुनाई देता है, ये जो भी कुछ वेदन करती हैं उसमें मुझे ये यही बोल रही हैं 'तू अमर बन, अमर

वन, अपने को पकाले, पकाले'। अतः हे सब ब्रह्माण्ड के स्वामी! मुझे पक्का करने के लिये तुम मेरे इस शरीर के भी स्वामी हो जावो। हे त्रिभुवन के रक्षक! इस शरीर की भी रक्षा करो। हे धीर! ज्ञानमय! तुम्हारे प्रविष्ट हुवे बिना यह कच्चा घड़ा कब तक रक्षित रह सकता है!

शब्दार्थ—

(यत्र) जहाँ इस शरीर में (सुपर्णाः) सुपतन शील इन्द्रियां (अनिमेषं) निरन्तर (अमृतस्य) अमृतज्ञान के (भागं) अपने भाग को लाकर (विदथा) वेदन के साथ (अभिस्वरन्ति) चल रही हैं, मानों बोल रही हैं (अत्र) उस इस मेरे शरीर में (विश्वस्य भुवनस्य) सब ब्रह्माण्ड का (इनः) ईश्वर (गोपाः) और सब भुवन का रक्षक (सः धीरः) वह धीमान् ज्ञानमय (पाकं मा) मुझ पक्तव्य में [अपरिपक्व में] (आविवेश) प्रविष्ट होवे।

१० श्रावण

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां
देवानां रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं
देवा न आयुःप्रतिरन्तु जीवसे॥

ऋ. १. ८९. २। य. २५. १५।

विनय

दो प्रकार का संसार कहा जा सकता है। एक देवों का संसार, दूसरा असुरों का संसार। देवों की मुख्य पहिचान यह है कि ये ऋजुगामी होते हैं। इनका गमन, इनका व्यवहार सरल, सीधा और सच्चा होता है। इसके विपरीत असुर वे लोग होते हैं जिनका व्यवहार कुटिल, टेढ़ा और असत्यमय होता है। हमें ऋजुता प्रिय है। अतः हम देवों के संसार में रहना चाहते हैं। अपने चारों तरफ ऊपर-नीचे, अन्दर-बाहिर, हमें देव ही देव दिखाई देते हैं। अपने सत्य नियमों के अनुसार चलने वाले, अपने सत्य धर्मों से कभी न डिगने वाले ये सूर्य, पृथिवी, अग्नि, वायु, जल आदि बाहिर के देव हैं। सत्यनिष्ठ, सत्यज्ञानी मनुष्य भी देव हैं, अन्दर प्राण, मन, बुद्धि आदि इन्द्रियां सब देव हैं। इन देवों के बीच में रहने वाले हम चाहते हैं कि चूंकि हमें ऋजुता प्रिय है अतः ऋजुता चाहने वाले इन देवों की कल्याणी मति हम पर सदा रहे—इनसे हमें सदा सच्ची ज्ञान-प्रेरणा मिलती रहे। ये देव जो हमें रक्षा, शान्ति, तेज, स्वास्थ्य, शक्ति, अन्न, पान, नाना प्रकार के सुखों का दान कर रहे हैं, ये शुभ दान हम ऋजुगामियों पर सदा बरसते रहें। हमारा इन देवों से सख्य-सम्बन्ध ही स्थापित हो जाय। हम इन देवों के साथी हो जायें। बल्कि अपने अन्दर देवों को बसा कर पूरे ऋजु होकर हम ही देव बन जायें। और जब हमारे अन्दर देव बस जायेंगे, हमारे सब कार्य ठीक-ठीक सत्य नियमों से हुआ करेंगे तो इन देवों के द्वारा हम अपनी पूर्ण ठीक आयु तक जीवन को भी प्राप्त करेंगे, और यह जीवन सच्चा जीवन होगा।

आओ, हम सब इस भूमि पर रहते हुवे ही देवों के संसार के वासी हो जायें दिव्य सुमति और दिव्य दान पाते हुवे देव बन कर देवों की तरह परिपूर्ण आयु भर इस भूमि पर वसें।

शब्दार्थ—

(ऋजूयतां देवानां) ऋजुगामी या ऋजु लोगों को चाहने वाले देवों की (भद्रा सुमतिः) कल्याणी सुमति (नः) हम पर रहे। (देवानां रातिः) ऐसे देवों का दान (नः) हम पर (अभि निवर्ततां) सब तरफ से निरन्तर वर्तता रहे। (वयं देवानां) हम इन देवों की (सख्यं उपसेदिम) मैत्री प्राप्त करें, इन की समानता में बैठें। (देवाः) ये देव (जीवसे) जीवित जीवन के लिये (नः आयुः) हमारी आयु (प्रतिरन्तु) बढ़ावें।

११ श्रावण

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं
धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे
रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥

ऋ. १. ८६. ५। य. २५. १८।

विनय

इस विषम संसार में हम जब किसी क्लेश में होते हैं तो

रक्षा के लिये जगदीश्वर को ही पुकारते हैं। यह जगदीश्वर इस सब ब्रह्माण्ड का ईश्वर है। स्थिर, अस्थिर, चर, अचर जो भी कुछ संसार है उस सब का वही पति है, वही स्वामी है। उस के सिवाय संसार में और दूसरा कौन रक्षा कर सकता है? और वह 'धियं-जिन्वं' ईश्वर रक्षा के लिये आता भी है। वह कोई हमारे जैसा हाथ पैर वाला साकार तो है ही नहीं जिसे कि चल कर हमारे पास पहुँचना हो और अपने हाथों से हमारी रक्षा करनी हो। वह सर्वगत हमारी बुद्धि या कर्म के प्रीणन करने द्वारा हमारी रक्षा कर देता है। वह प्रभु जो कि 'सर्वभूतों के हृद्देश में बैठा हुवा सब को घुमा रहा है'[1] हमारी बुद्धि का ठीक ज्ञान दे कर, हम से ठीक कर्म करा कर हमारी रक्षा कर देता है। बुद्धि व कर्म के अधूरे रहने से ही मनुष्य सदा कष्ट में पड़ता है। जगदीश्वर उसे किसी न किसी ढंग से तृप्त कर के पूरा कर देता है। अपनी या अपने किसी साथी की समझ बदल जाती है या उस से ऐसा कर्म हो जाता है कि विपत्ति कल्याण के रूप में परिणत हो जाती है। सब सन्तों ने 'धियं-जिन्वं' प्रभु की ऐसी कृपा का अनुभव किया है। अहो, वह ब्रह्माण्ड को भी एक अंश में धारण करने वाला अनन्त ईशान चुपके से हमारी बुद्धि में आकर और हमारे कर्म में आकर हमें बचा लेता है।

यदि वह न बचायेगा तो और कौन बचायेगा। वह पूषा है तो वही हमारा 'रक्षिता पायु' भी होगा। उस ने जैसे हमारे

---

१ गीता १८. ६१।

लिए इस जगत् में ये इतने ऐश्वर्य बढ़ाये हैं, यह शरीर, मन, बुद्धि आदि देकर इस सब ऐश्वर्यमय जगत् को हमारे सामने रख दिया है, वैसे ही जब कभी इस संसार में हम संकट में पड़ जायेंगे और हमारे प्राप्त इन ऐश्वर्यों में से कोई नष्ट हो रहा होगा तो वही (यदि इन की रक्षा में हमारी स्वस्ति देखेगा) इन की पूर्ण रक्षा भी करेगा। उस के दिए हुए धनों की रक्षा भी वही करेगा। हमें क्या चिन्ता? और जब वह हमारी स्वस्ति (कल्याण के लिये हमारे प्राप्त ऐश्वर्य धन, शरीर आदि) की रक्षा करने की आवश्यकता समझता है अर्थात् इन की रक्षा में ही हमारा वास्तविक कल्याण देखता है तो वह रक्षा करता है, ज़रूर रक्षा करता है और उस की यह रक्षा पूर्ण 'अदब्ध' होती है, तब उस की रक्षाओं को कौन रोक सकता है।

अतएव हम सदा उस 'धियंजिन्व' को उस 'अदब्ध रक्षिता' को रक्षा के लिये पुकारते हैं।

शब्दार्थ—

(तं) उस (जगतः तस्थुषः पतिं) जंगम और स्थावर ससार के पति (धियंजिन्वं) बुद्धि व कर्म के प्रीणन करने वाले (ईशानं) ईश्वर को (वयं) हम (अवसे हूमहे) रक्षा के लिये पुकारते हैं। (पूषा) वह पोषक (यथा) जहाँ (नः) हमारे (वेदसां) धनों की (वृधे) वृद्धि के लिये (असत्) हुवा है वहाँ वही (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये (अदब्धः रक्षिता पायुः) [हमारे धनों का] अहिंसित रक्षक और पालक भी होवे।

१२ श्रावण

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत
ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्
क्षोणीरिव प्रतिनो हर्य तद्वचः ॥

ऋ. १.५७.४ । अ. २०.१५.४ ।

विनय

हे महान् ऐश्वर्य वाले प्रभु ! हम ने तेरा अवलम्बन ग्रहण कर लिया है। हम ने देखा कि सब ज्ञानी तेरी ही स्तुति करते हैं। अतः हम ने भी अब और सब सहारे छोड़ कर एक तेरा ही सहारा ले लिया है। हम इस जगत् में अपना एक-एक व्यवहार, एक-एक काम काज तेरे ही भरोसे करते हैं। और कोई हमें क्या कहेगा, क्या समझेगा, हमें इस कार्य के करने से क्या दुःख आवेंगे, संसार हमारी कितनी निन्दा करेगा यह हम कुछ नहीं देखते। बस तेरी इच्छा (आज्ञा) क्या है इसे यथाशक्ति जान कर उसे ही तेरे भरोसे करते जाते हैं। अतः हे इन्द्र प्रभो ! अब हम तेरे हैं। तू हमारा है, और हम तेरे हैं। संसार में अब कोई और हमारा नहीं है। हमारे सब सम्बन्धी, हमारे घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्र, हमारा धन, हमारी बुद्धि, शरीर आदि किसी का भी हमें सहारा नहीं है। इन का जितना सहारा है वह सब तेरे द्वारा ही है। इस लिये हे हमारे स्वामी ! हे

हमारे ! हमारी प्रार्थनायें तेरे सिवाय और किस के पास पहुंच सकती हैं ? ऐसा संसार में कौन है जिसके आगे हम अब विनति करेंगे' विनति करने की हीनता करेंगे ? और किसी के आगे अब हम दीन नहीं बन सकते। इसलिये हे प्रार्थनाओं के सुनने वाले ! हे वाणियों की पूजा ग्रहण करने वाले ! हम जो प्रार्थनायें तुम्हारे चरणों में पहुँचा रहे हैं उन्हें तुम भी चाहो, तुम भी उन्हें अपनी तरफ़ इस तरह खींचो जैसे यह विशाल भूमि अपनी आकर्षणशक्ति से सब पार्थिव वस्तुओं को अपनी तरफ़ खींचती रहती है। हम कोई वस्तु ऊपर या इधर-उधर किसी विरुद्ध दिशा में फेंकें तो भी वह वस्तु अन्त में खिंचकर पृथिवी के ही पास पहुँच जाती है। इसी तरह हे हमारे देव ! हमारी प्रार्थनाओं में यदि कोई त्रुटि होवे, इनमें आत्म-समर्पण की कमी होने के कारण ये प्रार्थनाएँ ठीक तुम्हारी तरफ़ जाने योग्य न हों तो भी हे देव ! इन्हें तुम अपनी तरफ़ खींच लो। जब हम तुम्हारी कामना करते हैं तो तुम हमारी नहीं कर रहे हो यह कैसे हो सकता है ? नहीं तुम भी पृथिवी की तरह हमें खींच रहे हो। हम तो तुम्हारी तरफ़ आ ही रहे हैं, अतः हमारी कामनाओं के पाने की तुम भी प्रतिकामना करो। हमारी प्रार्थनाओं को प्रतिग्रहण करो, प्रतिग्रहण करो। तुम्हारे सिवाय अब हमारा और कोई नहीं रहा।

शब्दार्थ—

(प्रभूवसो) हे महान् ऐश्वर्य वाले ! (पुरुष्टुत) हे बहुतों से स्तुति किये जाने वाले ! (ये) जो हम (त्वा) तेरा ही

(आरभ्य) अवलम्बन कर के (चरामसि) चलते हैं (ते इमे वयम्) वे ये हम (इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते) तेरे हैं । (गिर्वणः) हे वाणियों से पूजनीय इन्द्र ! (गिरः) हमारी वाणियों को (त्वदन्यः) तेरे सिवा और कोई (नहि सघत्) नहीं प्राप्त करता, नहीं सुनता, (नः तद्वचः) अतः हमारी इन प्रार्थनाओं को (क्षोणीः इव) पृथिवी की तरह (प्रतिहर्य) प्रतिकामना करो, आकर्षण करो ।

१३ श्रावण

यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जने-
ऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम
मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥

ऋ. ७. ८९. ५ । अ. ६. ५१. ३ ।

विनय

हे वरुण ! तुम जन हो तो दैव्य जन हो—पर हम गिरते पड़ते उठने का यत्न करने वाले मनुष्य जन हैं । हे देव ! हम मनुष्यों पर दया करो, हम तुम्हारी दया के पात्र हैं । हम बेशक तुम्हारा द्रोह करने वाले बड़े भारी अपराधी होते रहते हैं । तुम्हारे धर्मों का लोप करना सचमुच बड़ा द्रोह है । जो कुछ हमें मिल रहा है वह सब तुम्हीं से मिल रहा है, और वह सब

इसी लिये मिल रहा है क्योंकि धर्म तुम्हारे सत्य हैं, अखण्ड हैं। यदि तुम्हारे धर्म कभी खण्डित हो सकें तो तुम, तुम न रहो। पर इन्हीं तुम्हारे सत्य धर्मों को (जिसके कारण हमें यह सब कुछ मिल रहा है) हम लोग अपने व्यवहार में लोप कर देते हैं। यह कितना द्रोह है ? ये तुम्हारे सनातनधर्म हमारे व्यवहार में धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय आदि रूपों में प्रकट होते हैं। पर हम इनका परिपालन न कर तुम सर्वदाता प्रभु के द्रोही होते रहते हैं। पर फिर भी हे देव ! हमारी तुमसे प्रार्थना है कि हमें क्षमा करो। हमें कठोर दण्ड देकर हमारा नाश मत करो। क्योंकि यह सब धर्मभंग हम जानबूझ कर नहीं करते। जो कुछ हमसे धर्म-लोप हाता है वह अज्ञान से, प्रमाद से, असावधानी से होता है। अब हम कभी जानबूझ कर अधर्माचरण में नहीं प्रवृत्त होते। पर ये अज्ञान की बेख़बरी की भूलें होते रहना तो हम मनुष्यों के लिये अस्वाभाविक नहीं है। इसलिये हम तुम्हारी दया के पात्र हैं। वरुण राजन् ! हम जानते हैं कि राजद्रोह बड़ा भारी अपराध है। तुम्हारे सच्चे पूर्ण कल्याणमय राज्य का द्रोह करना आत्मघात करना है। अतएव अब हम अपनी शक्ति भर और जान बूझ कर तुम परम प्यारे का द्रोह कैसे कर सकते हैं ? पर तुम भी हमारे अज्ञान से किये अपराधों को क्षमा करो। अथवा नहीं, तुमसे हम क्षमा के लिये क्यों कहें ? तुम तो हमारा विनाश कर ही नहीं सकते। तुम जो भी कुछ करोगे हमारा कल्याण ही करोगे। यह निश्चित है। फिर तम से तो प्रार्थना इस लिये है कि इस द्वारा हम तुम्हारे कुछ और अधिक नज़दीक हो जायें, हमारा हृदय शुद्ध हो जाय।

क्योंकि तुम्हारे आगे रो लेने से हृदय की शुद्धि हो जाती है और भविष्य के लिये धर्म-भंग होने की सम्भावना और कम होती जाती है।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे वरुण! (मनुष्याः) हम मनुष्य (दैव्ये जने) तुझ दिव्य जन में (इदं यत् किंच अभिद्रोहं) यह जो कुछ द्रोह (चरामसि) किया करते हैं, और (अचित्ती) अज्ञान और असावधानता से (यत् तव धर्मा युयोपिम) जो तेरे धर्मों का लोप किया करते हैं, (देव) हे देव! (तस्मात् एनसः) उस पाप के कारण (नः मा रीरिषः) हमारा नाश मत करो।

१४ श्रावण

युंजते मन उत युंजते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इत्
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

ऋ. ५. ८१. १। य. ५. १४। ११. ४। ३७. २।

विनय

विप्र लोग उस महान् विप्र के साथ अपना मन जोड़ते हैं। इसी का नाम योग है। ये योगी, ज्ञानी, महात्मा लोग

केवल अपने मन को ही उस चिन्मय प्रभु के साथ नहीं जोड़ते किन्तु बुद्धि को भी जोड़ते हैं। अपने क्षुद्र मन को उस के विभु मन में जोड़ने से हमारा मन एकाग्र हो जाता है, रुक जाता है; परन्तु अपनी बुद्धि के उस में जुड़ने से हमें उस के आत्म-ज्ञान में से हमारा उपयोगी सत्यज्ञान भी मिलने लगता है। इस प्रकार योगी सन्त पुरुष उस सर्व-प्रेरक देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने सब कर्म किया करते हैं। उन के ये सब शारीरिक वा मानसिक कर्म फिर उस परमदेव में आहुति रूप होते हैं। प्रभु उन सब के उन होत्रों को स्वीकार करते हैं और प्रतिदान में उन्हें उन के अनुकूल अपने ज्ञान को प्रेरित करते जाते हैं। इस प्रकार उस एक महान् आत्मा में संसार के सब विप्र (सब साधु महात्मा योगी) हवन कर रहे हैं और अपना-अपना अभीष्ट पा रहे हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि उस अकेले ही देवता ने अपने आप को इन सब जीवात्माओं के साथ ठीक-ठीक न्याययुक्त सम्बन्ध से जोड़ रक्खा है, और सम्बन्ध जुड़ने पर उस सम्बन्ध को परिपूर्णता के साथ निभा रहा है! वह कैसा वयुनावित् है, वह अकेला ही इन सब प्राणियों के एक-एक ज्ञान व कर्म को अलग अलग कैसे जान रहा है! ज़रा देखो कि ये ज्ञानी पुरुष ही नहीं, किन्तु न जानते हुए अनिच्छा से तो संसार के प्राणीमात्र ही उस एक यज्ञ पुरुष के साथ जुड़े हुवे हैं और वह 'अकेला ही' उन सब अनगिनत जीवों के साथ न जाने कैसे परिपूर्ण न्याय कर रहा है! ऐसे अद्भुत देव की, उस अकेले सर्व-प्रेरक देव की हम जितनी स्तुति करें वह थोड़ी है।

शब्दार्थ—

(विपश्चितः) उस चित्स्वरूप (बृहतः विप्रस्य) महान् ज्ञानी के (मनसा) मन के साथ (विप्राः) संसार के ज्ञानी लोग (मनः युंजते) अपने मन को जोड़ते हैं । (उत धियः युंजते) और अपनी बुद्धियों को भी संयुक्त करते हैं । (वयुनावित्) सब के ज्ञानों और कर्मों को जानने वाला (एक इत्) वह अकेला ही (होत्रा) इन सब के सत्कर्मों को, यज्ञकर्मों को (विदधे) विविध प्रकार से धारण करता है । यह (सवितुः देवस्य) इस सर्व-प्रेरक देव की (मही परिष्टुतिः) महान् स्तुति, अद्भुत प्रशंसा की बात देखो ।

●

१५ श्रावण

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये
सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे ।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं
राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥

ऋ. १. ५७. १ । अ. २०. १५. १ ।

विनय

हे परमदानी ! मैं तेरे सामने झुकता हूँ । मेरा मन और बुद्धि तेरे सामने झुकती हैं। तेरे अपरिमित ऐश्वर्यों की जो हम

पर अनवरत वर्षा हो रही है उसे देख कर मैं अवाक्, स्तब्ध, रह गया हूँ। मेरी बुद्धि तेरी महत्ता, तेरी अनन्तैश्वर्य्यता को समझ सकने से भी हार मान रही है। तू गुणों में अनन्त है, तू आकार में अनन्त है, तेरा धन अनन्त है और तेरा बल कभी झूठा नहीं हो सकता। तेरा बल जहां प्रयुक्त होता है वह ज़रूर सफल होता है। तू सच्चे बल वाला है। और फिर तू परम-दानी है। अपने अनन्त ऐश्वर्य की हम पर इस लिये वर्षा कर रहा है कि उसे पाकर हम में भी बल बढ़े, आत्मशक्ति बढ़े, हम भी सच्चे बल वाले हो जायें। तेरा यह ऐश्वर्य हमारे लिये खुला पड़ा है, और यह विश्व भर के लिये खुला पड़ा है, सब के लिये खुला पड़ा है। जो चाहे इसे यथेच्छ ले कर अपना बल बढ़ा लेवे। ज़रा देखो, इस ब्रह्माण्ड का स्थूल ऐश्वर्य, मानसिक अद्भुत ऐश्वर्य और अलौकिक अपार शक्ति वाला आत्मिक ऐश्वर्य ये सब एक से एक ऊंचे, एक से एक अधिक शक्ति देने वाले ऐश्वर्य हम पर बरस रहे हैं। ऐश्वर्य की कमी नहीं है, हमारी ग्रहण शक्ति ही की कमी है। ऐश्वर्य को लूटो और इससे अपनी शक्ति बढ़ाओ। अरे, यह तो बे रोक टोक हमारी तरफ बह रहा है। जैसे कि नदी का जल नीची भूमि पर स्वभावतः जाता है, उसे रोका नहीं जा सकता, वैसे ही परम प्रभु का ऐश्वर्य उनकी सर्वशक्तिमत्ता और उनकी वृहत्ता की ऊँचाई से हम नीचे खड़े अल्पशक्ति वालों की तरफ स्वभावतः आ रहा है। यह तो आ ही इस लिये रहा है कि हमारी कमियां हमारी निर्बलतायें भर जायें। प्रभु का ऐश्वर्य-जल हमें भरपूर करने के लिये, हमें पूर्ण कर देने के लिये नीचे अनवरत खुला बह रहा है। ओह! यह

अनन्त काल से बह रहा है, और इस ऐश्वर्य का कहीं अन्त नहीं है। इसे देखकर हे परम दानी ! मैं तेरे चरणों में गिर पड़ा हूँ—सर्वभाव से तेरे चरणों में गिर पड़ा हूँ। बुद्धि तक मेरा सब कुछ तेरे समर्पित है। हे महादानी !!

शब्दार्थ—

(यस्य राधः) जिस प्रभु का ऐश्वर्य (प्रवणे अप।मिव) नीची भूमि पर बहते पानी की तरह (दुर्धरं) दुर्धर है, रोका नहीं जा सकता, और जिसका ऐश्वर्य (विश्वायु) सब के लिये (शवसे) सब का बल बढ़ाने के लिये (अपावृतं) खुला पड़ा है उस (बृहते बृहद्रये) अनन्त गुण वाले और अनन्त धन वाले (सत्यशुष्माय) सत्य बल युक्त (मंहिष्ठाय) महादानी (तवसे) महान् प्रभु के लिये (मतिं प्रभरे) मैं अपनी बुद्धि समर्पण करता हूँ।

१६ श्रावण

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते
प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनू र्न तदामो अश्नुते
शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥

ऋ. ९. ८३. १. । सा. पू. ६. २. ७. १२। सा. उ. २. २. १६।

विनय

हे ब्रह्माण्डपति ! मैंने जाना कि मेरे शरीर अपवित्र क्यों हैं ? यद्यपि तुम्हारा पवित्रताकारक सामर्थ्य जगत् में सब कहीं फैला हुआ है, तुम ही उस पवित्र के साथ मेरे शरीरों के रोम रोम में रम रहे हो तो भी यह शरीर पवित्र नहीं है इस का कारण मैंने जाना। इस का कारण यह है कि मैंने तप की अग्नि से अपने शरीर को पकाया नहीं है। बिना आग में तपाये मिट्टी के घड़े में पवित्रताकारक जल कैसे ठहर सकता है ? इसी तरह तपोरहित मेरे शरीर में तुम्हारी पावनी शक्ति नहीं ठहर सकती। बिना इस शरीर में धारण किये इस से लाभ कैसे उठाऊँ ? और इसे धारण करने के लिये तो पका हुवा शरीर चाहिये। एवं इसे धारण न कर सकने के कारण मैं अभी तक इस के सब आनन्द से, सब रस से वञ्चित हूं। सचमुच तपोहीन पुरुष के लिये इस जगत् में कुछ भी रस नहीं है, कुछ भी सुख नहीं है। मैंने जाना कि यदि मैं अपने अन्नमय शरीर को ब्रह्मचर्य्य, व्यायाम, आसन, प्राणायाम आदि तप से तपा कर इसे पका लूंगा तभी यह मेरा शरीर तुझ पवित्र को धारण कर के शारीरिक सौख्य को पा सकेगा। मैंने जाना है कि यदि मैं वृत्तिनिग्रह, योग, एकाग्रता आदि तपों की अग्नि से अपने मानसिक शरीर को पका लूंगा तभी यह शरीर तुम्हारे पावन ज्ञान-रस को धारण कर सकेगा। तप की अग्नि से जब स्थूल व सूक्ष्म शरीर के स्थूल व सूक्ष्म मैल निकलते हैं तो तेरी सर्वव्यापक शक्ति इनमें आने लगती है, भरने लगती है। इस

तरह तप से पवित्रता और शक्ति आती है। शरीर परिपक्व होते जाते हैं। आहा, पवित्र होने पर कैसा अद्भुत आह्लाद मिलता है, शक्ति भरने पर कैसा सुख अनुभव होता है! तप न करने वाले लोग इसे क्या जानें? तपस्वी लोगों का काम न दे सकने वाला मलिन रोगग्रस्त (स्थूल) शरीर और तपस्वियों का इधर-उधर भटकने वाला, असंयत, भय, चिन्ता, क्रोध, इच्छादि से पीड़ित मन (मानसिक शरीर) किस काम का होता है? यदि प्रभु के पवित्रताकारक सामर्थ्य के समुद्र में बैठे हुवे भी उससे वञ्चित नहीं रहना है तो जल्दी करो; तप करो, तप करो, तप से अपने देहों को परिपक्व बनाते रहो। तप से पके शरीरों से ही यह प्राप्त किया जाता है।

शब्दार्थ—

(ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्माण्ड के पति! (ते पवित्रं) तेरा पवित्रताकारक पवित्र ज्ञान सामर्थ्य (विततं) सब कहीं फैला हुआ है। (प्रभुः) [उस पवित्र के साथ] तुम प्रभु (गात्राणि) मेरे शरीरों, अवयवों में भी (विश्वतः पर्येषि) सब तरफ से प्राप्त हुवे-हुवे हो। परन्तु (अतप्ततनुः) जिसने अपने शरीर को तप से तपाया नहीं है, अतएव (आमः) जो कच्चा है वह (तत्) उस पवित्र को (न अश्नुते) नहीं पाता। (शृतासः इत्) जो पके हुवे हैं वे ही (वहन्तः) उसे धारण करते हुवे (तत् समाशत) उसे अच्छी तरह प्राप्त करते हैं।

१७ श्रावण

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं
सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागस-
मस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥

अ. ७. ६. ३ । ऋ. १०. ६३. १०. । य. २१. ६ ।

विनय

आओ, अब हम विकृत जीवन को छोड़ प्रकृति की तरफ आवें, खण्डित अवस्थाओं से निकल अखण्डित की तरफ़ आवें, दिति के संसार को त्याग कर अदिति का अवलम्बन ग्रहण करें। अप्राकृतिक बनावटी विकारमय जीवन बिता-बिता कर हमने बहुत कष्ट पाये हैं, इस भवसागर में बहुत से गोते खाये हैं, अब तो आओ हम अपनी प्राणरक्षा के लिये इस प्राकृतिक जीवन रूपी दैवी नाव का आश्रय लेवें। यह दैवी नाव हमें भवसागर से डूबने से बचा लेगी। हमारी ठीक प्रकार रक्षा करेगी। ज़रा देखो कि इसका आश्रय बड़ा विस्तृत है; प्राकृतिक जीवन बिताने वाले को इस महान् प्रकृति का सम्पूर्ण अवलम्बन मिल जाता है, और उसे एक खुलेपन का आनन्ददायक अनुभव होता है। तथा ज्यों-ज्यों हमारा जीवन नैसर्गिक होता है, प्राकृतिक देवों के अनुकूल होता है, त्यों-त्यों हममें ज्ञानप्रकाश भी बढ़ता जाता है। और यह प्राकृतिक जीवन हमें कभी हानि कैसे पहुँचा सकता है? यही तो हमारा स्वाभाविक असली

जीवन है. अतः यह तो हमें बड़े प्रेम से अपनी शरण देता है। बड़े उत्तभ प्रकार का सुख हमें देता है। हम लोग सुख भोग के ही लिये तो विकृत जीवन को पसन्द करते हैं, पर हमें मालूम नहीं कि प्राकृतिक जीवन में जो एक ऊँचा सात्विक उत्तम प्रकार का सच्चा सुख है उसके सामने ये बनावटी सुख तो दुःख हो जाते हैं। ओह, देखो कि यह प्रकृति अपने में इतनी अखण्डित परिपूर्ण है कि यदि हम केवल श्रद्धापूर्वक अपने आप को इस प्रकृति के हवाले कर दें, अपने जीवन को प्राकृतिक सीधे-सादे नियमों में एक बार ढाल दें, तो फिर हमें और कुछ चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं रहती। प्रकृति माता अपनी उत्तम प्रणीतिओं (मार्गों, तरीकों) से शेष सब कुछ अपने आप कर लेती है। देव परमेश्वर की अपने प्राकृतिक देवों द्वारा बनाई इस दैवी नाव पर चढ़ने की केवल एक ही शर्त है, वह यह कि हम 'अनागस्' अर्थात् निष्पाप हों, प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन न करने वाले हों। बस हम केवल इतना करें तो हम इस नाव के सौभाग्यशाली यात्री हो जायेंगे। इतना करके हम निश्चिन्त हो जायें कि यह कभी न चू सकने वाली और सद्गुणों के उत्तम पतवारों वाली नौका हमें बैठे-बैठे ही सर्वथा कुशलपूर्वक पार लगा देगी। उस दूसरे अप्राकृतिक जीवन में तो सद्गुण विकसित नहीं हो सकते और अप्राकृत जीवन क्षणभंगुर विषयों के आश्रित होने से हमें बार-बार धोखा देता है। अतएव अब तक उसका सहारा ले लेकर हम बहुत गोते खा चुके, आओ अब हम इस दैवी नौका पर चढ़ लेवें और इस भयंकर दुस्तर सागर के पार लगकर कल्याण को प्राप्त होवें।

शब्दार्थ—

(सुत्रामाणं) ठीक प्रकार रक्षा करने वाली, (पृथिवीं) विस्तृत आश्रय देने वाली, (द्यां) ज्ञान-प्रकाश वाली, (अनेहसं) कभी हानि न पहुंचाने वाली, (सुशर्माणं) उत्तम प्रकार के सुख वाली, (सुप्रणीतिं) श्रेष्ठ मार्ग से ले चलने वाली, (स्वरित्रां) उत्तम पतवारों वाली, (अस्रवन्तीं) कभी न चूने वाली, अछिद्रा (अदितिं) परिपूर्ण अखण्डिता प्रकृति रूपिणी (दैवीं नावं) दैवी [देव ईश्वर की या उस के प्राकृतिक देवों की] नाव पर हम (अनागसः) निष्पाप होते हुवे (स्वस्तये) कल्याण के लिये (आरुहेम) चढ़ें।

१८ श्रावण

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे
मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने
मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये॥

ऋ. १. ३१. ७।

विनय

हे प्रभो ! ससार में ऐसे भी मर्त्य हैं जिन्हें कि तुम्हारी कृपा से नित्य अमरपद मिलता है, जिन्हें कि तुम प्रतिदिन अमृत का आनन्द चखाते हो। वे कौन हैं ? वे वे हैं जिन्हें कि

प्राणिमात्र का हित करने की प्यास लगी हुई है—जिन्हें और कोई इच्छा नहीं है, कोई कामना नहीं है, सिवाय इस के कि उन के द्वारा सदा प्राणिमात्र का (मनुष्यों का ही नहीं, किन्तु पशु जाति का भी) भला होता रहे; जो कहते हैं 'न त्वहं कामये राज्यं, स्वर्गं, नापुनर्भवं ; कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्', जिन्हें दुखितों की पीड़ा शमन किये बिना चैन नहीं मिलता, जिन्हें परदुःख-शमन की उत्कट प्यास लगी हुई है। उन प्यासों को तुम नित्य अमृत पिला कर तृप्त किया करते हो। यद्यपि वे मर्त्य हैं तो भी उन्हें तुम नित्य अमर पद देते हो। क्योंकि परसेवा कर लेते ही उन की अमृताभिलाषा तृप्त हो जाती है। उन्हें अपनी अमर आत्मा से मेल हो जाता है। हम मर्त्य इसीलिये रहते हैं क्योंकि हम अपने में ही आत्मा को देखते हैं, स्वार्थी हैं। जब मनुष्य एक-एक प्राणी में अपना सा आत्मा देखने लगता है तो उसे आत्मा की अमरता दीखने लगती है—सब भूतों में व्याप्त एक अमर आत्मा दीखने लगती है। तब मनुष्य सूरि (ज्ञानी) हो जाता है। तब उस ज्ञानी को सब पर—प्राणियों का क्लेश अपना क्लेश लगता है, उस पर-पीड़ा (जो कि उस की आत्म-पीड़ा हो जाती है) को बिना हटाये उसे अपनी आत्मा की अमृतता भंग हुई दीखती है। अतएव वह परसेवा के लिये प्यासा होता है। परसेवा कर लेने पर उसे उस पीड़ित प्राणी की आत्मा से एकता मिल जाने से फिर अमृतत्व मिल जाता है। हे प्रभो! एवं तुम उस धन्य पुरुष को प्रतिदिन श्रेष्ठ अमृतत्व देते हो। संसार द्वारा उसे 'श्रवस्' (यश) तो मिलता ही है, पर इस परसेवा से मिलने

वाला जो अलौकिक अवर्णनीय 'मय' (सुख) है वह भी तुम उसे देते हो। हम मरे रहने वाले स्वार्थियों को उस स्वार्थत्याग के परम सुख का कुछ पता नहीं है। हम 'मर्त्य' तो डरते रहते हैं कि यदि हम परसेवा में, सर्वभूतात्मा में अपने आप को स्वाहा कर देंगे तो हम मर ही जायेंगे, हमें, खाने को भी न मिलेगा। पर ऐसे अमृतत्व को पाने वाले मनुष्य अपने शरीर की चिन्ता छोड़ चुके होते हैं, वे अपने शरीर का धारण केवल परसेवा के लिये ही किये होते होते हैं, अतः हे प्रभो! अन्न देकर उन के इस शरीर की रक्षा तुम पर आ पड़ती है। और हम देखते हैं कि कि चूंकि जगत् को उस परोपकारमूर्ति के शरीर की जरूरत होती है अतः जगत् ही स्वयं उस के शरीर की रक्षा के लिये चिन्तित फिरता है। इस प्रकार हे प्रभो! उस अमृत भोगने वाले महात्मा के मर्त्य शरीर के लिये अन्न भी तुम दिया करते हो।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे प्रकाशक देव ! (यः) जो (उभयाय जन्मने) द्विपदचतुष्पद या मनुष्य-मनुष्येतर दोनों प्रकार के जीवों के भले के लिये (तातृषाणः) अत्यन्त तृषित है, प्यासा है (तं मर्त्यं) उस मनुष्य को (त्वं) तू (श्रवसे) यश के लिये (दिवे दिवे) प्रतिदिन (उत्तमे अमृतत्वे) श्रेष्ठ अमृत पद में (दधासि) पहुंचाता है, (सूरये) और उस ज्ञानी पुरुष के लिये तू (मयः) सुख (आकृणोषि) करता है (प्रयः च) और अन्न भी।

•

१६ श्रावण

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषम्
मव देवानां बृहतामनर्वणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं
नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥

अ. ७. ८. १।

विनय

दिति और अदिति दोनों मुझ में हैं। खण्डित होने वाली विकृति (माया) दिति है और खण्डित न होने वाली प्रकृति (मूलशक्ति) अदिति है। दैत्यों और आदित्यों (देवों) की ये दोनों मातायें अपने पुत्रों द्वारा मेरे हृदय में संघर्ष किया करती हैं। दिति मेरे हृदय में स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, भय, काम, लोभ आदि असनातन विकारी भावों को जनित करती है और अदिति से परोपकार, करुणा, प्रेम, निर्भयता, वैराग्य, निष्कामता आदि सनातन भावों के पुत्र पैदा हो रहे हैं। पर मेरे इस हृदय के संघर्ष में मैं इन दिति के पुत्रों को, इन दैत्य भावों को, अदिति के बना देता हूँ, उन महान् सनातन देवों द्वारा इन दैत्यों को दबा देता हूँ, नीचा कर देता हूँ। वे देव बृहत् हैं और अपराश्रित हैं, ये दैत्य (असुरभाव) तो इन के देवों के ही आश्रित हैं। संसार में ये देव भाव न हों, तो ये आसुरी भाव चल ही न सकें। संसार में सत्य के आश्रय से ही झूठ

चल रहा है। अतएव मैं उन सत्य सनातन दैवी भावों (अक्लिष्ट-वृत्तियों) द्वारा इन आसुरी विचारों (क्लिष्ट वृत्तियों) को सदा दबा देता हूं। यह क्यों न हो जब कि उन देवों का तेज अति गम्भीर है। वे दैवभाव अपना तेज उस अखण्ड प्रकृति (परमात्मा) के अक्षय समुद्र द्वारा ग्रहण करते हैं। अतएव मेरे क्षुद्र दुर्भाव इन दैवभावों के धाम (तेज) का पार नहीं पा सकते। इन दुर्भावों में अपनी कुछ शक्ति नहीं होती, इनका अपना कोई आधार नहीं होता; अतः ये कुछ समय तक उछल कूद करके अपनी उत्तेजना और अशान्ति सहित स्वयमेव विनष्ट हो जाते हैं। दैवभावों की अगाध नम्रता ही इन्हें हरा देती है। दैवभावों में यह राजसिक उछल-कूद व अशान्ति नहीं होती, उनकी सात्विक नमस् (नम्रता) में ही सब को नमा देने की अक्षय शक्ति होती है। देवों की इस नम्रता की अगाध शक्ति को हरा सकने वाली और कोई शक्ति संसार में नहीं है। अतः सचमुच इन नम्र, गम्भीर, अचलप्रतिष्ठ दैवभावों की ही सदा विजय होती है एवं मेरी इस हृदय भूमि में देव-दैत्यों के संग्राम में दिति से उत्पन्न होने वाले पुत्र अदिति (नित्यशक्ति) की अखण्डित शक्ति के आधीन हो जाते हैं, उनके दैवी तेज के सामने ये दब जाते हैं, वहीं विलीन हो जाते हैं।

शब्दार्थ—

(दितेः पुत्राणां) दिति के पुत्रों [दैत्यों] को (अदितेः अकारिषम्) मैंने अदिति का कर लिया है, (बृहतां अनर्वणां देवानां) इन्हें मैंने उन महान् अपराश्रित देवों के (अव

[अकारिषम्]) आधीन [नीचे] कर लिया है। (तेषां हि) उन देवों का (धाम) तेज (गभिषक्) बड़ा गम्भीर है, क्योंकि वह (समुद्रियं) नित्य शक्ति के तेजः समुद्र से उत्पन्न हुआ है, (नमसा) नम्रता की शक्ति से युक्त (एनान्) इन देवों से (परः कश्चन न अस्ति) परे, बढ़कर, और कोई नहीं है।

•

२० श्रावण

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतान्
आभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः ।
वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः
स्तवानो वम्रो विजघान संदिहः ॥

ऋ. १. ५१. ६।

विनय

परमेश्वर इस संसार को सदा नवजीवन देते हुवे जीवित रख रहे हैं। वे संसार के सच्चे व्रतपालक मनुष्यों को स्थान देने के लिये व्रतभंग करने वालों का विनाश कर रहे हैं और संकुचित लोगों को जल्दी खत्म करके व्यापक विचार वालों को स्थिरता दे रहे हैं। इस तरह संसार जीवन पा रहा है और विकसित हो रहा है। देखने वाले देखते हैं कि इस विश्व में उच्च आदर्शवालों, व्यापक भावनाओं से प्रेरित होकर कर्म

करने वालों का ही प्रभुत्व है, इस विश्व में संसार के सत्य नियमों का अवलम्बन करने वालों के पास ही सच्ची विजय-दायिनी शक्ति है, इस विश्व में काल सब संकुचित दृष्टि वालों को मारता हुआ चल रहा है, उसकी मार से वे ही उतनी देर तक बचते हैं जो जितने ऊंचे और व्यापक दृष्टि वालेहोते हैं। पर साधारण लोगों को इस ईश्वरीय सत्य नियम में संदेह रहता है, उन्हें तो प्रायः संसार में नियम भंग करने वाले और संकुचित लोग ही विजय पाते दीखते हैं। ऐसे संदेह होना स्वाभाविक है। ये संदेह तो तब विनष्ट होते हैं जब द्युलोक तक व्यापक इस अद्भुत विशाल इन्द्र के दर्शन पाकर मनुष्य उस का सच्चा स्तोता 'वम्र' बन जाता है, जब इस दिव्यदर्शन में मस्त हो उसकी वाणी से स्वभावतः स्तोत्र उद्गिरण होने लगते हैं। तब उसके सामने कोई विघ्न बाधा नहीं ठहर सकती। उस समय वह अपने उस द्युलोकवासी ('द्यां इनक्षतः') तक पहुंचने की अपनी उड़ान में बाधक देखकर अपने सब बड़े से बड़े पार्थिव उपचयों को—उन भौतिक बड़े-बड़े संग्रहों को जिनकी कि हम लोग जी जान से रक्षा करने में लगे रहते हैं—बन्धन की तरह तोड़ डालता है, उन्हें लात मार जाता है, त्याग जाता है। क्योंकि वह देखता है कि उसके इन्द्र इस भूलोक में नहीं हैं किन्तु द्युलोक तक व्यापे हुवे हैं और वह द्युलोक के इस रहस्य को देखता है कि वृद्ध पुरुष की यद्यपि शारीरिक उन्नति पूरी हो चुकी होती है तो भी उसकी दैवी (आध्यात्मिक) उन्नति के लिये असीम क्षेत्र खुला होता है; उस में वह और जितना चाहे उतना बढ़ सकता है, अर्थात् वह अध्यात्म की इस महिमा

को देख लेता है कि इस विश्व में यद्यपि भौतिक (भूलोक की) उन्नति की एक सीमा है जिससे अधिक उसमें मनुष्य वृद्ध (उन्नत) नहीं हो सकता तथापि विश्व में एक ऐसा द्युलोक (ज्ञान का लोक) भी है जिसमें कि ऐसी कोई सीमा नहीं, जिसमें मनुष्य अनन्तरूप से बढ़ता जा सकता है। इस तरह वृद्ध को भी और बढ़ाने वाले उस द्युलोकव्यापी देव के दर्शन पाकर मुख से उस प्रभु के स्तोत्र उद्गिरण करते हुवे वह 'वम्र' ऐसा मस्त हो जाता है, और उसकी उस मस्ती में उसमें ऐसे बल का संचार हो जाता है कि उसके सब संदेह एकदम छूट जाते हैं और उस के आगे बढ़ने के लिये उसके सामने से सब बड़े से बड़े पार्थिव उपचयों के बन्धन टूट जाते हैं।

शब्दार्थ—

(अनुव्रताय अपव्रतान् रन्धयन्) नियमपालकों के लिये नियम भङ्ग करने वालों का नाश करते हुवे और (आभूभिः अनाभुवः श्नथयन्) असंकुचित मनुष्यों द्वारा संकुचित मनुष्यों का नाश करते हुवे (इन्द्रः) परमेश्वर हैं। उस (वृद्धस्य चित् वर्धतः) वृद्ध के भी बढ़ाने वाले और (द्यां इनक्षतः) द्युलोक तक व्यापे हुवे परमेश्वर की (स्तवानः) स्तुति करने वाला (वम्रः) स्तोता, स्तोत्र उद्गिरण करने वाला (संदिहः) अपने संदेहों को या पार्थिव उपचयों को (विजघान) नष्ट कर देता है, समाप्त कर देता है।

२१ श्रावण

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोमि
एषां बद्धानामवसर्जनाय कम् ।
भूमिरिति त्वामभि प्रमन्वते जना
निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सर्वतः ॥

अ. ६. ८४. १ । य. १२. ६४ ।

विनय

हे निर्ऋते ! हे स्थूल जगत् के देवते ! तुझ में स्थूल भोग भोगने में मनुष्य बड़ा सुख मानते हैं। वे तेरी इस भूमि पर इस स्थूल जगत् में खाने-पीने, सन्तान उत्पन्न करने तथा इन्द्रियों के अन्य भोग प्राप्त करने में बड़ा आनन्द पाते हैं, और वे इसीलिए जीते हैं। तुझ को, तुझरूप इस भूमि (स्थूल जगत्) को, वे सब सुखों की भूमि, सब भोगों का आश्रय, सब आनन्दों को पैदा करने वाली मानते हैं। परन्तु मैं तो तुझे निर्ऋति ही समझता हूं, कृच्छ्रापत्ति ही देखता हूं। इस स्थूल जगत् में पड़ा हुआ मैं अपने आप को एक महान् गहन आपत्ति में फँसा हुवा पाता हूँ। सब तरफ से मैं एक भारी विपत्ति में फँसा हुवा हूं, यह स्पष्ट देखता हूं। स्थूल जगत् के भोग मुझे सुखदायक नहीं लगते; ये मुझे परिणाम, ताप संस्कार, आदि सब तरह से क्लेश रूप लगते हैं; ये मुझे फँसाने वाले, बाँधने वाले, गला घोटने वाले लगते हैं। आत्मा

स्थूल भोग भोगने के लिए स्थूल देहों को धारण करता है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह स्थूलता की तरफ जाता है त्यों-त्यों वह परिमित, बद्ध, निरुद्ध, सीमित शक्तिवाला होता जाता है। इस स्थूलतम 'पार्थिव' शरीर को पाकर तो आत्मा बिल्कुल ही बँध गया है। स्थूल शरीर में वह आत्मा इन्द्रियों की प्रणालिका से बाहिर कोई ज्ञान नहीं पा सकता और हाथ-पैर आदि से जितना परिमित कर्म किया जा सकता है उस से अधिक कर्म नहीं कर सकता। केवल वह पशुसुलभ भोग जरूर भोगता है। ओह! हे निर्ऋते! मैं तो ज्ञान और शक्ति के रोकने वाले इस स्थूल बंधन से घबरा गया हूँ। मनुष्य-योनि पाकर मुझे तो अपने आत्मा की बन्धनरहित अवस्था की कुछ स्मृति सी आगयी है, झलक दीखने लगी है। मुझ में उच्च, विस्तृत, शान्त सुखों की चाह पैदा हो गयी है। अतएव मैं तो इन स्थूल बन्धनों को तोड़ कर उड़ना सा चाहता हूँ। पर ये बँधे हुवे बंधन यूं टूटने वाले भी नहीं हैं। इन्हें इन्हीं के सहारे धैर्य से तोड़ना होगा। अतएव मैं तेरे स्थूल भोगों को त्यागपूर्वक, हवनपूर्वक भोग रहा हूँ। खाना, पीना, देखना, सुनना, आदि स्थूल भोगों को समर्पण-बुद्धि से करता हुवा मैं अनुभव करता हूँ कि मैं इन कर्मों को तेरे घोर भयंकर मुख में हवन कर रहा हूँ। ये भोग मुझे रमणीय नहीं लगते, किन्तु घोररूप लगते हैं। पर मैं इन कर्मों को धैर्य से हवनरूप में इसलिए करता जाता हूँ जिस से कि इन बँधे हुवे बन्धनों का क्रमशः 'अवसर्जन' हो जाय, इन से छूट कर मैं एक दिन मुक्त स्वाधीन वायु में श्वास ले सकूँ। तो हे निर्ऋते! मैं तुझे 'नितरां रमण कराने वाली' कैसे समझ सकता हूँ, मैं तो

तुझे 'ऋति से निरोध करने वाली' देख रहा हूँ। तू सब तरफ़ से मुझे ऋति से (सत्यगति या ज्ञानमय गति से) रोके हुवे है, यह साक्षात् देख रहा हूँ।

शब्दार्थ—

(यस्याः ते) जिस तेरे (घोरे आसनि) घोर मुख में (जुहोमि) मैं हवन करता हूँ कि (एषां बद्धानां) इन स्थूलता के बंधे हुए बन्धनों से (अवसर्जनाय कं) छुटकारा पा सकूं, (त्वा) उस तुझ को (जनाः) मनुष्य तो (भूमिः) तू भोगों की भूमि है (इति अभिप्रमन्वते) ऐसा मानते हैं; परन्तु (अहं) मैं (त्वा) तुझे (निर्ऋतिः)[1] कृच्छ्रापत्ति, भारी विपत् (इति) ऐसा (सर्वतः) सब तरफ से (परिवेद) ठीक-ठीक जानता हूँ।

२२ श्रावण

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे
यद्याचमानस्य चरतो जनाँ अनु।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं
सरस्वती तद् आपणद् घृतेन॥

अ. ७. ५७. १।

---

१ वेद में 'निर्ऋति' शब्द का अर्थ भूमि भी है (निरमयति

विनय

सार्वजनिक जीवन बिताना बड़ा कठिन है। बिल्कुल निःस्वार्थ भाव से लोकसेवा करते हुए भी बहुत बार जो कुछ सुनना पड़ता है और जो कुछ व्यवहार सहना पड़ता है उस से मन प्रायः विक्षुब्ध हो जाता है, हृदय को भारी चोट पहुँचती है। कई बार तो इन से इतना मन खिन्न हो जाता है कि लोकसेवा छोड़ देना ही ठीक लगता है। परन्तु हृदयवासिनी सरस्वती देवी का ध्यान कर के मैं रुक जाता हूँ। मैं यह जानता हूँ कि यदि मैं सचमुच सर्वथा निःस्वार्थ हूँ, सच्चा सेवक हूँ तो ऐसे भारी से भारी विक्षोभ और चोटें भी मेरे लिये क्षणिक हैं, और ये मेरी आत्मविशुद्धि करने वाली और मुझे बलवान् बनाने वाली ही हैं। ऐसी चोटें लगने पर ज्यों ही मैं कुछ देर के लिये अपने हृदयमन्दिर में बैठ कर आत्मचिन्तन कर लूँगा तो अन्दर की ज्ञानमयी स्नेहस्वरूपिणी सरस्वती देवी की कृपा से मेरी ये चोटें क्षण में ठीक हो जायेंगी और मैं तब अपने को पहिले से अधिक पवित्र तथा अधिक बलवान् भी पाऊँगा। सरस्वती देवी के पास वह घृत है, ज्ञान और स्नेह का वह अद्भुत मरहम है, शान्ति और प्रफुल्लता देने वाला वह स्निग्ध ज्ञान है जिस से कि सच्चे पुरुष के सब घाव आत्मचिन्तन करते से जादू की तरह ज़रा सी देर में बिलकुल ठीक हो जाते हैं।

इति); और इस का अर्थ कृच्छ्रापत्ति, बड़ी भारी विपत्ति या पाप भी है।

मनुष्य आत्मस्वरूप को सदा स्मरण न रख सकने के कारण ही विक्षुब्ध व व्याकुल हो जाता है। अतएव विचार व आत्मचिन्तन कर लेने से देखा जाता है कि मनन करने वाले के भारी से भारी मानसिक आघातों की भी पीड़ा बहुत कुछ उसी समय चली जाती है। इसलिये यद्यपि हित की बात कहते हुवे, भाषण देते हुवे, जब उनका कुछ फल होता नहीं दीखता, जिन लोगों से ज़रा भी वैसी आशा नहीं होती वे भी विरोध करते हैं, तो मेरा हृदय विक्षुब्ध हो जाता है; यद्यपि जब लोगों के पीछे मारे-मारे फिरते हुवे, अनुनय विनय करते हुवे भी लोग अपने कल्याण की बात नहीं सुनते या जब अपना सर्वस्व छोड़कर किसी यज्ञ-कार्य के लिये द्वार-द्वार भिक्षा माँगते फिरते हुवे भी बदले में नाना अपवाद सुनने पड़ते हैं, तो मेरे हृदय में चोट लग जाती है, और यद्यपि ऐसी-ऐसी नाना प्रकार की सद् आशाओं के भंग हो जाने से या भलाई के बदले घोर अपमान व आपत्ति मिलने से मेरा आन्तरिक मानसिक शरीर चूर-चूर हो जाता है, क्षत विक्षत हो जाता है; तथापि हे सरस्वती देवी! मेरी प्रार्थना है कि तुम सदा उन सब मेरे घावों को अपनी इस स्नेहरसमयी चैतन्यकारिणी शान्तिदायिनी दिव्य मरहम से जादू की तरह भर कर ठीक करती रहो।

शब्दार्थ—

(जनान् अनुचरतः) मनुष्यों की सेवा करते हुवे (आशसा वदतः) उनके साथ आशा से बोलते हुवे, भाषण करते हुवे, (मे) मेरा (यत्) जो कभी-कभी (विचुक्षुभे)

मन विक्षोभ को प्राप्त होता है, और (याचमानस्य) लोगों के हित के लिये उनसे प्रार्थना करते हुवे, या भिक्षा करते हुवे (यत्) जो मेरा मन विक्षोभ को प्राप्त होता है तथा (आत्मनि तन्वः) अपने अन्दर अन्तः-शरीर पर, अंतःकरण पर (मे यत् विरिष्टम्) मुझे जो चोट पहुंचती हैं, घाव होते हैं (तत्) उस सब को (सरस्वती) विद्यादेवी (घृतेन) अपने ज्ञान पूर्ण और स्नेहमय मरहम से (आपृणात्) भर देवे, पूर देवे ।

२३ श्रावण

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम
तवेदिदमभितश्चेकिते वसु ।
अतः संगृभ्याभिभूत आभर
मा त्वायतो जरितुःकाममूनयीः ।।

ऋ० १. ५३. ३ । अ. २०. २१. ३।

विनय

हे परमैश्वर्यवाले इन्द्र ! इस संसार में चारों तरफ दिखाई देने वाला और नाना तरह भोगा जाता हुवा जो ऐश्वर्य है वह सब तेरा है । पहिले मैं इन ऐश्वर्यों को मनुष्य का ऐश्वर्य समझता था, पर अब खूब अच्छी तरह जान गया हूं कि यह सब तेरा है—एक मात्र तेरा ही है। तेरे ही दिये अनन्त

ऐश्वर्य को संसार भोग रहा है। ये भौतिक सुख देने वाली सब वस्तुएँ, प्रतिष्ठा, यौवन, प्रभुत्व आदि ऐश्वर्य; अभय, सत्वसंशुद्धि आदि दैवी संपत् और बड़ी-बड़ी आत्मिक सिद्धियाँ और विभूतियाँ इन सब प्रकार के एक से एक ऊँचे ऐश्वर्य को यह संसार तुझ से ही पाकर भोग रहा है। हे सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी! हे अतिशय ज्योति वाले! हे सर्वशक्तिमान्! मैं तुझे एक बार देखकर तेरा हो चुका हूँ, अपना सर्वस्व तुझे सौंपकर तेरा हो चुका हूँ। अब तू ही मेरा अपना है। इस विश्व में मेरा अब और कोई नहीं है। तो फिर मैं अपनी प्रार्थना किस और के सामने करूँ? अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए किस अन्य की तरफ़ देखूँ? तुझे अपनाकर, हे सर्वैश्वर्यवाले! हे सर्वशक्तिमय! मेरी शुभ अभिलाषा कैसे अपूर्ण रह सकती है? तू पुरुकृत् है। तूने बहुत से भक्तों के लिए बहुत कुछ किया है, इस संसार का सब कुछ तूने ही बनाया है। तू एक क्षण में अभिलषित ऐश्वर्य की रचना करके दे सकता है। हे अभिभूते! सब विघ्नों और आवरणों के हटा देने वाले! तुम अपने अपरिमित ऐश्वर्य में से उठा कर मेरी इच्छा भर ज़रा सा ऐश्वर्य मुझे दे दो। मेरी अभिलाशा कितनी ही कठिन, कितनी ही असंभव सी दीखती हो, पर तुम सब विघ्न-बाधाओं को अभिभव कर सकते हो। हे सब विघ्नों का विनाश कर सकने वाले! तेरे जैसे स्वामी को अपनाने वाले भक्त की प्रार्थना कैसे अधूरी रह सकती है? हे प्रभो! बाधा हटाकर इसे पूर्ण कर दो, पूर्ण कर दो! अपने अनन्त ऐश्वर्य में से उठा कर यह एक मुट्ठी भर

ऐश्वर्य मुझे दे दो। यह मेरी इतनी बड़ी भारी अभिलाषा तुम्हारे लिए सचमुच मुट्ठी भर ही है।

शब्दार्थ—

(शचीवः) हे सर्वशक्तिमान्, (पुरुकृत्) बहुत कुछ करने वाले, (द्युमत्तम) अतिशय दीप्ति वाले, (इन्द्र) परमेश्वर! (अभितः) सब तरफ जो (इदं) यह (वसु) ऐश्वर्य है वह (तव) तेरा (इत्) ही है, ऐसा मैं (चेकिते) खूब अच्छी तरह जानता हूं। (अतः) इसलिए इनमें से (अभिभूते) हे विघ्नविनाशक! (संगृभ्य) मेरे योग्य धन उठा कर (आभर) मुझे दीजिये। (त्वायतः) तुझे अपनाने वाले (जरितुः) मुझ स्तोता की (कामं) इच्छा प्रार्थना को (मा ऊनयीः) अपूर्ण मत रखिये।

२४ श्रावण

स इन्महानि समिथानि मज्मना
कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः।
अधा चन श्रद्धति त्विषीमत
इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम्॥

ऋ० १.५५.५।

विनय

किसी लड़ाई में, किसी जीवनसंघर्ष में जब मनुष्य को

विजय मिलती है तो वह फूला नहीं समाता है। वह समझता है मेरे शस्त्र-बल की, बुद्धि-बल की या तपोबल की विजय हुई। परन्तु संसार के सब महासंग्रामों के विषय में जो सच्चा रहस्य है उसे विरले ही मनुष्य समझते हैं। सच तो यह है कि संसार की सब सच्ची (अन्तिम) विजयें परमात्मा की ही विजय हैं। हम अधिक ज्ञान-प्रकाश में हो कर देखें तो हमें दीखेगा कि वह परमेश्वर ही महायोद्धा हो कर हम मनुष्यों के लिए सब संग्रामों को लड़ रहा है। मनुष्य की स्वार्थमयी आसुरी प्रवृत्ति के कारण संसार में सब लड़ाइयों के प्रसंग उपस्थित हो रहे हैं और जगदीश्वर की दैवी शक्ति उसे अन्त में विजित कर के शान्त कर रही है। मनुष्य की न्यूनता पर परमेश्वर की पूर्णता विजय पा रही है। हमें जो यह दीखता है कि बहुत से मनुष्य सत्य के पक्ष में महासंग्राम लड़ रहे हैं वे असल में सत्यप्रेमी मनुष्यों के लिये स्वयं भगवान् वह युद्ध कर रहे होते हैं, और अतएव ही उस में विजय अवश्यंभावी होती है। परमात्मा का पवित्रताकारक ओज ही लड़ कर जगत् में सदा विजयी हो रहा है। सत्य के लिये युद्ध करने वालों को तो सदा यह समझना चाहिये, स्पष्ट देखना चाहिये कि उन का योद्धा स्वयं जगदीश्वर है, जगदीश्वर ही है, (स इत्)। अहंकार से विमूढ़ात्मा हुवे मनुष्य यूं ही अपने को योद्धा और विजयी समझते हैं। अन्त में जब उन का अहंकार का पर्दा हटता है और जगत्-व्यापक ज्योति मिलती है तब ही उन्हें इस असली सत्य में श्रद्धा जमती है। तब उन्हें पाप के विजयी होने का भी भ्रम नहीं होता; क्योंकि उन्हें तब

इन महान् युद्धों का महान्पन (महानि समिथानि) स्पष्ट दिखाई देता है। अतः अधूरे युद्ध में पाप की क्षणिक विजयों से वे भ्रम में नहीं आते, उन की श्रद्धा में ज़रा भी धक्का नहीं लगता। अपने उस निर्बाध व्यापक प्रकाश में उन्हें सब संग्रामों का यह सच्चा स्वरूप दृष्टिगोचर हो रहा होता है कि एक तरफ़ मनुष्यों के स्वार्थ दूसरों के नाना प्रकार से हिंसन (बध) करने के रूप में उठ रहे हैं, पर जहां तक उन को स्वाधीनता है वहां तक उठ कर वे सब दूसरी तरफ़ महातेजस्वी इन्द्र के ओज के सामने नष्ट होते जा रहे हैं—इन्द्र का पापवर्जक, कर्मफल देने वाला वज्र उन के बध का ही बध करता हुआ सदा समता स्थापित कर रहा है। तब यह भी दीख जाता है कि इन्द्र का लड़ने वाला यह ओज संसार में पवित्रता ही ला रहा है। स्वार्थी मनुष्यों की बध (हिंसा) का जो वह इस तरह वर्जन करा रहा है उस से वह उन्हें पवित्र कर रहा है। ज़रा, सब संग्रामों के इस सच्चे स्वरूप का दर्शन करो।

शब्दार्थ—

(स इत्) वह इन्द्र ही (युध्मः) योधा होकर (मज्मना ओजसा) अपने पवित्रकारक ओज से (महानि समिथानि) बड़े-बड़े संग्रामों को (जनेभ्यः) मनुष्यों के लिए (कृणोति) करता है। परन्तु लोग (अधा चन) अनन्तर ही, पीछे से ही (त्विषीमते इन्द्राय) उस महातेजस्वी इन्द्र में (श्रद्दधति) श्रद्धा करते हैं, जो कि (बधं) संसार के सब बध को, सब हिंसा को (वज्रं निघनिघ्नते) वज्र मारता है, अपने वज्र से हनन किया करता है।

२५ श्रावण

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे
तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च,
स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति ॥

अ. ११. ५. १ ।

विनय

ब्रह्मचारी वह है जो कि ब्रह्म के लिए (महान् सत्यज्ञान के लिए या परमेश्वर-प्राप्ति के लिए) सब आचरण करता है, तपश्चरण करता है । वह उस सत्य की खोज के लिए कुछ उठा नहीं रखता है । इस स्थूल बाह्य-जगत् अर्थात् पृथिवी में तथा सूक्ष्म अन्दर के ज्ञान-जगत् अर्थात् द्यौ में वह उस परम सत्य को खोजता हुवा फिरता है । उसे जहाँ भी कोई ब्रह्म अर्थात् सत्य-ज्ञान मिलता है तो वह फिर उसी (ब्रह्म) के अनुसार अपना आचरण करने लगता है । घोर से घोर तपस्या कर के भी वह उस ब्रह्म (सत्यज्ञान) से विपरीत चलने से अपने को बचाता है । ऐसे सच्चे ब्रह्मचारी में क्रमशः सब देवता सब ईश्वरीय शक्तियाँ अनुकूल हो जाती हैं । जब वह अपना सर्वार्पण करता हुवा भी देवों के सत्य नियमों का पूर्णतः पालन करता है तो वे देव उस से एक मनवाले क्यों न हो जायेंगे ? बाहिर के अग्नि, वायु, आदित्य आदि देव उस के वाणी, प्राण,

दर्शनेन्द्रिय आदि अन्दर के देवों के साथ समस्वर हो जाते हैं। इस प्रकार बाहिर का पृथिवी और द्युलोक ही उस के अन्दर ठीक प्रकार धारित हो जाता है। सचमुच जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सभी वास्तव में पिण्ड में ही है। ब्रह्मचारी अपने शारीरिक वीर्य की रक्षा द्वारा जहाँ स्थूल पृथिवी लोक को अपने में धारण करता है, वहाँ अपने आत्म-वीर्य (तेज) की रक्षा द्वारा सब द्युलोक को भी अपने में समाये होता है। धन्य हैं वे ब्रह्मचारी, जो अपने आत्मवीर्य को अपने में अक्षुण्ण स्थापित रखते हुवे इसे अधिक-अधिक जागृत करते जाते हैं। ऐसे ही लोगों के प्रताप से यह संसार—यह स्थूल (दृश्य) और सूक्ष्म (ज्ञानमय) संसार, यह पृथिवी और यह द्यौ—स्थित हैं। परम ब्रह्मचारी भगवान् जो कि वास्तव में सब जगत् के कर्ता इन्हीं वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारियों को साधन बना कर जगत् का धारण कर रहे हैं उस सर्वथा 'अनश्नन्' त्रिकाल में भोगवासना रहित, परमेश्वर से तेज को लेते हुवे इन ब्रह्मचारियों में वह आत्म-वीर्य पैदा होता है जिस से कि ये दैवी नियमों का ठीक पालन कर सकते हैं, और अतएव जगत् में दैवी नियमों का ठीक संचालन होता है, और सब जगत् कायम है। मनुष्यो! ब्रह्मचर्य की इस परम महिमा को देखो। और अपनी परिपूर्ण शक्ति लगा कर महान् ब्रह्मचर्य की तरफ अग्रसर होवो। हे उच्च आदर्श पर पहुंचने का यत्न करने वाले ब्रह्मचारियो! तुम इस आदर्श तक जितना पहुंचो उतना थोड़ा है। तुम में ब्रह्मचर्य तेज की धारा को पहुँचाने वाले तुम्हारे आचार्य तभी तृप्त होंगे, तब उऋण होंगे जब कि तुम उन जैसे द्यौ और पृथिवी के धारण

करने वाले ब्रह्मचारी बन जावोगे । अतः तप करो और ऊँचे ब्रह्मचारी बनो । कम से कम ब्रह्मचर्य परम्परा को भंग न होने दो यदि तुम इस परम्परा को अधिक बढ़ा न सको, तप द्वारा 'ब्रह्म का चरण' करते हुवे आचार्य को तृप्त कर दो । तप से ही ब्रह्मचर्य है, तप ही ब्रह्मचर्य है ।

शब्दार्थ—

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) दिव् और पृथिवी दोनों लोकों में (इष्णान्) ब्रह्म को खोजता हुवा, चाहता हुआ (चरति) विचरता है (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी में (देवाः) सब दिव्य शक्तियाँ (संमनसः) अनुकूल मन वाली (भवन्ति) हो जाती हैं । अतः (सः) वह (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्युलोक को (दाधार) अपने अन्दर धारण करता है । (सः) ऐसा ब्रह्मचारी (तपसा) इस तप से (आचार्यं) अपने आचार्य को भी (पिपर्त्ति) परितृप्त करता है, पूर्ण करता है, पालन करता है ।

२६ श्रावण

विपश्चिते पवमानाय गायत
मही न धारात्यन्धो अर्षति ।
अहिर्न जूर्णामतिसर्पति त्वचं
अत्यो न क्रीडन्नसरद् वृषा हरिः ॥

ऋ. ९. ८६. ४४ । सा. उ. ७. ३. २१ ।

विनय

उस ज्ञानमय आत्मा के स्तुति गीत गाओ जो कि महा अद्भुत है। यह आत्मा सोमरस हो कर अपने विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय विस्तारों में नानारूप से पवमान हो रहा है। इन आन्तरिक शरीरों में जो लोग आत्मा के इन अद्भुत कौतुकों को देख पाते हैं वे आवेश में आ कर अवश हो कर उस की स्तुतियाँ गाने लगते हैं। अहो! मनुष्य अपने ही आत्मा को नहीं जानता! यदि वह इस के सामर्थ्यों, कार्यों और गतियों को जान जाय तो संसार की अन्य सब बाहिरी बातों की प्रशंसायें करना छोड़ कर आत्मा के ही स्त्रोत्रगान में मग्न हो जाय। जब आध्यान द्वारा आत्मा की शक्ति विज्ञानमय शरीर में विशेषतया प्रकट होती है तो मनुष्य में चैतन्य (उच्च ज्ञान) की बाढ़ आ जाती है। जैसे कोई बड़ी जल धारा बढ़ने पर अपने तटों को लांघ कर इधर-उधर के क्षेत्र में भी भर जाती है वैसे ही आत्मा में ज्ञान प्रकाश होने पर वह आत्मा इस स्थूल शरीर को और इन्द्रियों को अतिक्रमण कर जाता है, शरीर से बाहिर भी उस का साक्षात् अनुभव होता है, और उसे अतीन्द्रिय ज्ञान हुवा करते हैं। उस के विज्ञानमय आदि आन्तर शरीर परिपक्व हो जाने पर उस के लिए स्थूल देह परम तुच्छ वस्तु हो जाती है। हम तो इस स्थूल देह को छोड़ने का ख्याल करते ही डरते हैं और जब छोड़ना पड़ता है तो रोते चीख़ते हुवे इसे छोड़ते हैं। परन्तु वह जागृत आत्मा स्थूल शरीर को इस तरह आसानी से और स्वभावतः त्याग देता है जैसे कि

सांप आन्तर नई त्वचा के तैयार हो जाने पर जीर्ण हुई केंचुली को सहज में छोड़ जाया करता है। वह जागृत आत्मा तो एक शरीर से दूसरे शरीर में या आन्तरिक संसार में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में इस तरह चला जाता है जैसे कि एक बलवान् और गतिशील घोड़ा एक स्थान को छोड़ कर दौड़ता हुआ—विहार करता हुवा—दूसरे स्थान पर जा पहुंचता है। वह बलवान आत्मा अपने साथ प्राणों, इन्द्रियों आदि का हरण करता हुवा आनन्द से नये-नये स्थान पर चला जाता है। मरना जीना आदि संसार की सब घटनायें उसे लीला और खेल नज़र आती हैं। सचमुच वह खेलता हुवा ही आन्तर संसार में विचरता है, इस स्थूल देह को वह सर्वथा भूला सा रहता है जिसके कारण हम मौत से डरते हैं। तब वह अपने भूत पर यदि कभी दृष्टि डाल कर देखता है तो वह उस सब बड़े भारी खेल को भी अनुभव करता है जो कि उसने सैंकड़ों, सहस्रों जन्मों को धारण करते हुवे किया है। अहो! उस महान् परम-देव आत्मा को नमस्कार करो। भाइयो! उसे देखो और उसके गीत गावो।

शब्दार्थ—

(विपश्चिते) ज्ञान मय (पवमानाय) सोमरूप आत्मा की (गायत) स्तुति गान करो। (अन्धः) वह आध्यायनीय आत्मा (महीं धारां न) बड़ी जलधारा के समान (अति अर्षति) अपने तटों रूप देहबंधनों को तोड़कर चला जाता है। (अहिः जूर्णां त्वचं न) सांप जैसे अपनी जीर्ण त्वचा को वैसे वह

अपने जीर्ण शरीर को (अतिसर्पति) छोड़कर चला जाता है। और (अत्यः न) घोड़े के समान (वृषा हरिः) यह बलवान् और गतिशील आत्मा (क्रीडन्) खेलता हुवा (असरत्) एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र पर चला जाता है।

●

२७ श्रावण

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः,
प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च,
तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ॥

अथर्व० १६. २०. २।

विनय

मुझे अब फ़िकर नहीं है कि यदि कोई मुझे हानि पहुंचावेंगे तो मैं उनसे कैसे अपने को बचाऊंगा। जो लोग अज्ञान से मुझे अपना शत्रु जानकर मुझे कभी विपद्ग्रस्त करना चाहेंगे तो उनसे बचने के लिये अब मैं न तो जेब में पिस्तौल रखता हूँ, न अंगरक्षकों की तरह किन्हीं साथियों से घिरा रहता हूँ। इसके लिए न तो सार्वजनिक जीवन में किसी दल (पार्टी) बनाने की आवश्यकता समझता हूँ, न ही विरोधी समझे जाने वाले के विरुद्ध कोई प्रचार (प्रोपेगेण्डा) करने की। एवं विरोधियों से बचने के लिए अब कभी मुझे कोई भी योजनायें

(Schemes) बनाने और करने की चिन्ता नहीं होती। क्योंकि मैंने देख लिया है कि प्रभु जो कि इस सब भुवन के पति हैं, रक्षक हैं, उन्होंने हम सब की रक्षा का स्वयं ही पूरा प्रबन्ध कर रखा है। उस प्रजापति ने हम प्रजाओं की रक्षा के लिए सब स्थानों पर दिव्य वर्म (कवच) बना रखे हैं। ये देखो, ये निरावरण दिशायें उसी के अदृश्य कवचों को पहिन कर सुरक्षित हैं। सचमुच यदि संसार में मनुष्यों के दुष्ट अभिप्राय पूरे हो सकते होते तो आज ही यह सब संसार विनष्ट हो जाता। परन्तु उस भुवनपति के अदृश्य कवच इन आठों दिशाओं में फैले हुवे, विशाल जगत् की रक्षा कर रहे हैं, दुष्ट अभिप्रायों को विफल कर रहे हैं।

इन अदृष्ट कवचों का स्वरूप क्या है ? ये हमारे व्यष्टि प्राणों में समष्टि प्राणों द्वारा मिलने वाले हमारे शुभकर्मों के फल रूप हैं। जगत्-व्यापक सूक्ष्म प्राण, मातरिश्वा या सूत्रात्मा वायु (हमारे अपने पापों से आयी विपत्ति के अतिरिक्त अन्य) सब क्लेशों, भयों से हमारी निरन्तर रक्षा कर रहे हैं। यदि हमारा भोग नहीं है तो संसार में कोई भी हमारा बाल बाँका नहीं कर सकता है। जब हम देखते हैं कि हमें गोली मारने वाले का वार चूक जाता है, हमें हानि पहुँचाने की सब योजनाओं का ऐसा प्रभाव होता है कि उलटे उन से हमारा कल्याण हो जाता है, तब उस समय मातरिश्वा प्रजापति के इन अदृष्ट कवचों की सत्ता सब को अनुभव हो जाती है। इन्हीं ईश्वरीय कवचों से सदा सुरक्षित देखते हुवे ही सत्यनिष्ठ आस्तिक वीर लोग हज़ारों विरोधियों के बीच में निर्भय विचरा

करते हैं। संसार के सब सच्चे आस्तिक पुरुषों को सर्वथा निर्भय, निश्चिन्त बनाने वाले ये ही प्रजापति के कवच हैं। इन्हें न देख कर हम तो यूँ ही हज़ारों काल्पनिक भयों से पीड़ित तथा उन के प्रतिविधान के लिये सदा चिन्तित रहते हैं। हे भुवनपति! मेरी तुम से यही प्रार्थना है, यही याचना है कि मेरे लिये तुम्हारे दिये ये कवच सदा बहुत रहें, पर्याप्त रहें। मुझे किन्हीं अन्य निरर्थक दुनियाबी कवचों की, रक्षा-साधनों की, ज़रूरत न हो मैं सदा तुम्हारे इन्हीं महान् दुर्भेद्य; सर्व-समर्थ कवचों की रक्षा में रहूँ।

शब्दार्थ—

(यः भुवनस्य पतिः) जो इस संसार का पति है उस (मातरिश्वा प्रजापतिः) प्राणस्वरूप, सूक्ष्म प्राणशक्ति द्वारा संसार को चलाने वाले, प्रजाओं के रक्षक ने (प्रजाभ्यः) अपनी प्रजाओं के लिये (यानि) जिन कवचों को (चकार) बनाया है और (यानि) जिन कवचों को (प्रदिशः दिशश्च) ये दिशायें और प्रदिशायें (वसते) पहिने हुई हैं (तानि वर्माणि) वे कवच (मे) मेरे लिये (बहुलानि सन्तु) बहुत होवें, प्रबल होवें, पर्याप्त होवें।

२८ श्रावण

न घा त्वद्रिगपवेति मे मन

त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रय।

राजेव दस्म निषदोऽधि वर्हिषि
अस्मिन्त्सुसोमे ऽवपानमस्तु ते ॥

अ. २०. १७. २। ऋ. १०. ४३. २।

विनय

हे देव ! मैंने संसार में बहुत विहार किया, बहुत इच्छायें, कामनायें पा लीं, बहुत भटका; परन्तु जब से मेरा मन तेरी तरफ़ गया है, जब से शास्त्रश्रवण द्वारा, तेरे एक सच्चे भक्त (गुरु) द्वारा, तेरे स्वरूप की एक झांकी मुझे मिली है, तब से मेरा मन मुग्ध हो कर ठहर गया है। हे दर्शनीय ! तुझे देख कर मैंने सब कुछ पा लिया है। जिस प्यारे अमर तत्व को न पा लेने से सब व्याकुलता थी वही पा लिया है। तेरे स्वरूप ने दीख कर मुझे ऐसा मोहित कर लिया है कि अब मेरा मन हे परमसुन्दर ! तुझ से ज़रा देर को भी हटना नहीं चाहता है। मैं अब अन्य किस वस्तु की कामना, करूँ ? मेरी सब इच्छा, कामना, अभिलाषा, मनोरथ, सब का तू ही एक आश्रय हो गया है। अब मुझ में दीखने वाली कुछ स्वाभाविक कामनायें भी जिस में अवलम्बित हैं वह एक तेरी कामना रह गई है। हे मेरे हृदय को सब अन्य कामनाओं से शुद्ध कर देनेवाले देव ! अब तुम मेरे इस निष्काम हृदयान्तरिक्ष को अपने इस मुग्ध करने वाले दृश्यमान स्वरूप से परिपूर्ण कर दो, मेरे अन्तःकरण के आसन पर आ विराजो, राजा की तरह मेरे हृदय के सिंहासन पर आरुढ़ हो जावो। हे अभीष्ट देव ! तुम

मेरे हृदय के शासक, नियंत्रक, राजा, स्वामी हो जाओ। हे समस्त प्रजाओं द्वारा पुकारे गए पुरुहूत ! मेरे महाभाग्योदय से जब तुम मुझे एक बार मिल गये हो तो मैं तुम्हें क्यों गँवा दूं। अतः अब तुम मुझ में स्थिर हो जाओ, आ बैठो। हे दर्शनीय ! तुम्हें एक बार देख लेने पर अब मैं तुम्हें आँखों से क्षण भर के लिए भी ओझल नहीं करना चाहता। अतएव कहता हूँ कि इस मेरे हृदय को अपना निवास स्थान बना लो। हे 'रसेन तृप्त' ! तुम अपने परिपूर्ण स्वरूप के सोमरस से सदा ही तृप्त हो, मैं तुम्हें अपने हृदय में निमंत्रित करके क्या सुख दे सकूंगा ? परन्तु नहीं, मेरा भक्त मन कहता है तुम्हें भी विशुद्ध हुई आत्मा को देखकर अवश्य सुख तृप्ति मिलती होगी। अतः तुम मेरे हृदय में बैठकर मेरे शुद्ध हुवे, उत्तप्त हुवे, आत्मा से स्वभावतः निकलने वाले भक्तिरस का—सुसोम का आस्वादन करो। अपने उच्च सिंहासन से उतर कर मेरे इस तुच्छ पात्र को ग्रहण करो। मेरा यह कामनामल से रहित हुवा निर्लेप आत्मा तुम्हारा सोम होकर सर्वभाव से तुम्हें समर्पित है, तुम इसे ग्रहण करो, स्वीकार करो, अपना लो।

शब्दार्थ—

[हे इन्द्र] (मे) मेरा (त्वद्रिक् मनः) तेरी तरफ गया मन (न घ अपवेति) अब कभी लौटता नहीं, तुझसे हटता नहीं, (पुरुहूत) हे बहुत से पुकारे गये ! (कामं) अपनी सब इच्छा मनोरथ कामना को (त्वे इत्) तुझ में ही (शिश्रय) मैंने आश्रित कर दिया है। (दस्म) हे दर्शनीय ! हे परमसुन्दर !

तू (राजा इव) राजा की तरह (बर्हिषि अधि) मेरे हृदयासन पर (निषदः) बैठ जा, (अस्मिन् सुसोमे) इस उत्तम सोम आत्मा में अब (ते) तेरा (अवपानं अस्तु) अवपान हो, उतर कर पीना हो।

२६ श्रावण

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजो
ऽयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति
तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥

अ. ६. ६३. २।

विनय

हे मुझ पर आई हुई भारी विपत्ति ! मैं तुझे नमस्कार करता हूं। मैं जानता हूँ कि इस संसार में हम पर जो कष्ट, क्लेश, दुःख-दर्द आते हैं वे हमारे भले के लिए, हमें हलका करने के लिए ही आते हैं। अतः मैं तेरा स्वागत करता हूँ। हे भारी से भारी विपत्ति ! तुम आओ, और मेरे भारी से भारी बन्धनों को, पाशों को काट जाओ। तुम तो बन्धन काटने के लिए ही आया करती हो। हम ने पाप कर के अपने आप को बांध लिया होता है तुम दुःख भुगा कर हमें उस-उस पाप के बन्धन से छुड़ा जाती हो। हे विपत्तियो ! तुम तो बड़ी कल्याण-

कारी, मंगलकारी, वस्तु हो। हम जो पहिले बड़े-बड़े पाप कर चुके हैं उन के कारण हमारी उन्नति रुक जाती है, उन के बोझ से हम दब गये होते हैं। जब तक कि वह बोझ उतर न जाय, वह ऋण न अदा हो जाय, तब तक हम आगे बढ़ने से वंचित हो जाते हैं। विपत्तियां तो हमें आगे बढ़ने से रोकने वाली हमारी इन बेड़ियों को काट जाती हैं। इसलिये हे भारी विपत्ति! तू मुझ पर अपने पूरे तीक्ष्ण तेज के साथ आ! तू मेरे किसी बड़े भारी पाप-समूह का फल दीखती है, इसीलिये तू इतने तीक्ष्ण क्लेश संताप वाली है। परन्तु तू आकर मेरी उतने ही बड़े सुदृढ़, उतने ही बड़े कठोर और उतने ही भारी बाधा डालने वाले पाश को काट जा। तेरा जितना ही तीक्ष्ण संताप है, उतनी भारी मेरी बेड़ी कटेगी यह मुझे विश्वास है। अतएव मैं, हे घोर विपत्ति! तुझसे घबराता नहीं हूं। मैं तेरा प्रसन्नता से स्वागत करता हूँ। पहिले भी मुझे कई बार कष्ट आ चुके हैं। पर उस सर्वनियन्ता प्रभु ने आज फिर मेरे लिये तुझे भेजा है। पिछली विपदों से भी मैं कुछ हलका हुवा था; पर आज उस यम प्रभु ने फिर से मेरे लिये ऐसी भारी विपत्ति को दिया है कि इसकी असह्य तीक्ष्णताओं से तो मेरे वे सब लोहमय दुर्भेद्य पाश जो और किसी तरह कट नहीं सकते थे वे भी कट जायेंगे। अतः मैं उस मृत्यु रूप प्रभु को भी आज नमस्कार करता हूँ। उसका रुद्ररूप भी शिव होता है, संहारक रूप भी कल्याणकारी होता है, यह मैं जानता हूँ। उसके सुखशान्तिदाता सौम्य रूप को तो मैं सदा नमस्कार करता ही रहा हूँ, पर आज तुझे घोर विपत्ति

के भेजने वाले उसके मृत्युरूप को भी नमस्कार करता हूं। हे उसकी भेजी हुई मेरी विपत्ति! तू आ, तेरा स्वागत है।

शब्दार्थ—

(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ते! हे भारी विपद्! (ते नमः अस्तु) मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। (तिग्मतेजः) हे तीक्ष्ण तेजवाली! तू मेरी (अयस्मयान् बंधपाशान्) बड़ी सुदृढ़ बांधने वाली बेड़ियों को (विचृत) काट डाल। (यमः) नियमन करने वाला परमेश्वर (पुनः इत्) फिर भी (मह्यं) मेरे लिये (त्वां) तुझे (ददाति) दे रहा है। (तस्मै) उस (मृत्यवे) मृत्युरूप, संहारक (यमाय) नियमन करने वाले परमेश्वर को भी (नमो अस्तु) मेरा नमस्कार है।

●

३० श्रावण

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः,
कृणोतु मह्यमसपत्नमेव।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु,
सर्वे देवा हवमायन्तु मे इमम्॥

अ. ६. २. ७।

विनय

मैं चाहता हूँ कि मुझमें जो आत्मा का संकल्प-बल निहित

है उसके द्वारा मैं सपत्नरहित हो जाऊँ । हर समय जो मुझे अब अपने प्रतिद्वन्द्वियों से लड़ने में लगा रहना पड़ता है वह मेरी विषम अवस्था हट जाय। इसके बिना मैं देवों के साथ कभी अपना सहज सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता। अतः मैं तो संकल्प-बल द्वारा अन्य कुछ सिद्ध नहीं करना चाहता, केवल अपने में देवों को स्थापित कर लेना चाहता हूँ, और इस प्रयोजन के लिये इससे पहिले इन देवों के सब सपत्नों को, सब प्रतिद्वन्द्वियों को, काम क्रोध आदि को, निर्मूल कर देना चाहता हूं। यह हो जायगा तो बाकी सब अपने आप सिद्ध हो जायगा। ज्ञान, सत्य, प्रेम, यज्ञ, संयम, धैर्य आदि देव मुझमें सदा बसने ही चाहियें। ये मेरे आत्मा के स्वाभाविक साथी हैं। परन्तु इसके मुकाबिले में इन्हें हटा कर मेरे हृदय में प्रभुत्व जमाने के लिये जो निरन्तर अविद्या, अस्मिता, राग (काम), द्वेष (क्रोध), लोभ आदि आते रहते हैं ये ही मेरे प्रतिद्वन्द्वी सपत्न हैं, जिन्हें बिना हटाये मुझमें मेरे इन देवों का वास नहीं हो सकता है। अतः मैं अपने प्रबल महान् संकल्प द्वारा इन अविद्या आदि व काम क्रोध आदि सपत्नों को हटा दूंगा। परन्तु संकल्प का अर्थ इच्छा नहीं है। केवल प्रबल इच्छा होने से ये सपत्न नहीं हट सकते हैं। इसके लिये ज्ञान ज़रूरी है। बिना ज्ञान हुवे, काम क्रोध आदि को नहीं हटाया जा सकता है। यूं ही दबाने से ये दबने वाले नहीं हैं, बल्कि हठात् दबाने से तो ये और ज़ोर से उठते हैं। इसके लिये मुझे ज़रूरत है आत्मसंकल्प की, आत्मा के संकल्प की, 'काम' की। क्योंकि आत्मसंकल्प 'वाजी' होता है, ज्ञानबल से युक्त

होता है और यह 'अध्यक्ष' होता है, यह मेरे मूर्धा में ब्रह्मस्थान पर ऊपर आत्मा के साथ स्थित रहता है और वहीं से सब क्रियाओं की अध्यक्षता करता है। यही मनुष्य में एक आत्म-बल है; यही सच्चा संकल्प है; इच्छा का नाम संकल्प नहीं है। इस वाजी, अध्यक्ष, आत्म-संकल्प द्वारा गहरे से गहरा बद्धमूल काम, क्रोध व रागद्वेष आदि सपत्न उखड़ जायगा। अतः मैं अपनी ज्ञानमय बलवान् अध्यक्ष आत्म-शक्ति को ऊपर से प्रेरित करता हूं कि यह अपने अदम्य अमोघ बल से काम, क्रोध आदि प्रतिद्वन्द्वियों को निवृत्त करके मुझे असपत्न कर दे और तब सब मेरे आत्मीय देव मुझसे सहज सम्बन्ध से जुड़े हुवे हो जायें। असपत्न हो जाने पर मेरे संकल्प की इस पुकार से सब के सब दिव्यभाव मुझ में आ जायें। ये देव मुझ में ऐसे बस जायें, मुझ में ऐसे सम्बद्ध हो जायें, कि मैं अपने संकल्प द्वारा जब जिस दिव्यभाव को, जब जिस देव को, उद्बुद्ध करना चाहूँ उसी समय वह उद्बुद्ध हो जाय।

शब्दार्थ—

(मम उग्रः कामः) मेरा प्रबल संकल्प (वाजी) ज्ञान बल से युक्त है, और (अध्यक्षः) ऊपर से ठीक-ठीक देखने वाला है। यह संकल्प (मह्यम्) मेरे लिये संसार को (असपत्नम् एव) सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी रहित (कृणोतु) कर देवे। (विश्वे देवाः) सब देव (मम नाथं) मेरे सम्बन्ध में (भवन्तु) हो जावें, (सर्वे देवाः) और ये सब देव (मे इमं हवम्) मेरी इस पुकार पर (आयन्तु) आजावें।

३१ श्रावण

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना
उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम्।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो
मह्यं षड्‌र्वीर्घृतमावहन्तु ॥

अ. ९. २. ११।

विनय

मेरा संकल्प-बल जाग गया है। मनुष्य के संकल्प में बड़ा बल छिपा हुवा है, भगवान् जिस अपने 'काम' से—ईक्षणशक्ति से—सब जगत् को उत्पन्न करते और चलाते हैं वही संसार की असीम शक्ति मनुष्य के संकल्प में आयी हुई है, यह बात अब मुझे अपनी संकल्पशक्ति के जागने पर अनुभव हो रही है। मेरे जागे हुवे संकल्प-बल ने, उस काम ने, सब से पहिले मेरी बाधाओं को, रुकावटों को हटाने में अपनी शक्ति लगाई है। मेरे संकल्प ने काम, क्रोध, लोभ आदि सपत्नों को, रिपुओं को मार गिराया है। इच्छामूलक (वासनामूलक) काम क्रोधादि दुर्भाव ही मेरे एकमात्र सपत्न थे जो कि मेरे आत्ममूलक देवभावों के मुकाबिले में आते थे और उन्हें दबाये रहते थे। पर मेरे दृढ़ संकल्प ने इन्हें बड़े यत्न से अब मार दिया है, बेजान कर दिया है। इन बाधाओं को हटा कर मेरे संकल्प ने मुझे एक विस्तृत निर्बाध खुले लोक में पहुँचा दिया है।

मेरे लिये एक नया अमित क्षेत्र खुल गया है। मैं बढ़ गया हूं, इस विस्तृत क्षेत्र भर में फैला हुआ मैं अपने को अनुभव करता हूं। अब मैं जो संकल्प करता हूँ वह सीधा वेग से बे रोकटोक अपने दूर से दूर स्थित लक्ष्य पर जा पहुंचता है और उस पर अपना प्रभाव डालने लगता है। जब मैं तृष्णाओं का मारा काम क्रोधादि सपत्नों से आक्रान्त रहता था तब मैं जो कोई संकल्प किया करता था उस का शीघ्र ही व्याघात हो जाता था, इधर एक निश्चय करता था तो उधर दूसरी तरफ का ध्यान न रहने से उधर से मुझे चोट आ पहुँचती थी, इस तरह बड़ी मुश्किल में रहता था। पर अब मेरे आत्म-संकल्प ने मुझे इन से ऊपर उठा दिया है और मुझे एक खुले लोक में पहुँचा दिया है। अब मेरे बढ़ते जाते हुवे संकल्प बल के सामने कौन ठहर सकता है? इस विस्तृत लोक में प्रतिष्ठित होकर मैं अब जो संकल्प करूँगा उसे प्रकृति को, सब संसार को पूरा करना होगा। ये विस्तृत छओं दिशायें और चारों उपदिशायें मेरे सामने झुक जावें, इन सब दिशाओं का संसार मेरी संकल्पित वस्तु को क्षरित करने के लिये तैयार रहें। पूर्व में, पश्चिम में, उत्तर में, दक्षिण में, नीचे या ऊपर जहाँ भी मैं अपने आत्म-संकल्प को चलाऊँ, भेजूँ वहाँ का संसार मेरे संकल्प से क्षरित हुवे उस अभीष्ट फल को (घृत को) मेरे लिए उपस्थित कर देवे। संसार में अब ऐसी कौन सी दिशा या स्थान रहा है जहाँ से कि मेरा महान् संकल्प आत्म-संकल्पित वस्तु को क्षरित नहीं करा सकता।

शब्दार्थ—

(कामः) मेरे संकल्प बल ने (मम ये सपत्नाः) मेरे जो प्रतिद्वन्द्वी बाधक हैं उन्हें (अवधीत्) नष्ट कर दिया है, (मह्यं) मेरे लिये (उरुं लोकं) विस्तृत खुला हुआ लोक (अकरत्) कर दिया है, (एधतुं [अकरत्]) मेरे लिए वृद्धि व विस्तार कर दिया है। अब (मह्यं) मेरे लिये (चतस्रः प्रदिशः) चारों उपदिशायें (नमन्तां) झुक जावें, और (षट् उर्वीः) छओं विस्तृत दिशायें (मह्यं) मेरे लिये (घृतं) क्षरित हुवे इष्ट फल को (आवहन्तु) ले आवें।

☆

याद रखना

कि

हिरण्मयेन पात्रेण
सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

यजुर्वेद ४०. १७ ।

सत्य का स्वरूप सुनहरे चमकीले ढकने से ढका हुआ है ।

★

भाद्रपद मास

भाद्रपद (सिंह) मास

[भाद्रपद के लिये प्राणदायक व्यायाम--पेट और अन्तड़ियों को स्वस्थ करने वाला]

पूर्व वर्णित स्थिति के अनुसार भुजाओं को नीचे लटकाये हुवे तथा मुट्ठी बाँध कर खड़े हो जाइये । हथेलियाँ बाहिर की तरफ हों। दोनों हाथ तथा पैर तने हुए हों । पेट तक पहुंचने वाला पूर्ण श्वास लीजिए और इस को अन्दर ही थामे रखिये । अब पेट को क्रमशः अन्दर सुकोड़िए और फुलाइए, सुकोड़ने के लिए पेट से वायु को छाती में पहुंचाइए और फुलाने के लिए छाती से वायु को पेट में लाइए।

इस तरह श्वास को अन्दर रोके हुवे इस सुकोड़ने तथा फैलाने की क्रिया द्वारा पेट अन्दर और बाहर की तरफ गति करेगा, पिचकेगा और उभरेगा।

श्वास निकालने से पूर्व ८ या १० बार तक कीजिए। श्वास निकालने के बाद शरीर को ढीला छोड़ दीजिये; और फिर दुबारा तिबारा इसी तरह व्यायाम कीजिए।

ध्यान

यह व्यायाम मेरे पाचक अंगों को शक्ति दे रहा है, मेरे शरीर को बड़ा लाभ पहुँचाता हुआ प्रभावित कर रहा है··· ।

इन पेट और अन्तड़ियों को गौणतया ज्येष्ठ, मार्गशीर्ष और फाल्गुन की व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुंचता है।

★

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं
जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं
दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

अ. ८४. २२ । ऋ. ७. १०४. २२।

विनय

हे जीव ! तूने दुर्लभ मनुष्य जन्म पा कर भी अभी तक अपने में से पशुताओं को नहीं निकाला है । तुझ में छः प्रकार के पशुत्व अब तक बसे हुवे हैं । मनुष्य योनि ही वह उच्च योनि है जिस में आत्म-शक्ति जागृत की जा सकती है । अतः तू अब अपने इन्द्रत्व को पहचान और अपनी आत्म-शक्ति से इन 'षड् रिपुओं' को, छः पशुताओं को, छः राक्षसों को. अपने में से विनष्ट कर दे । इन से अपनी रक्षा करनी चाहिये । अतः ये ही तो असली राक्षस हैं जो कि तेरे बध्य हैं । तुझ में जो कभी कोकपक्षी की तरह अत्यन्त कामविकार का राक्षस आता है उसे तू मार डाल । तू तो संयम कर सकने वाला मनुष्य है । तू जो कभी क्रोधाविष्ट हो कर अपने भाइयों पर निर्दय अत्याचार कर

डालता है यह तुझ में भेड़ियापन है । जो भी कुछ द्वेष व हिंसा तू करता है वह सब तुझ मनुष्य में जीवों को मार कर खा डालने वाले भेड़िये का सा आचरण है । और जिस तरह गिद्ध मरते सिसकते प्राणियों के भी मांस पर ही दृष्टि रखता है उस तरह तुझ में जो दूसरों के नाश पर पुष्ट होने की घृणित, लोभ-मयी वृत्ति उठती है यह भी एक बड़ा दुष्ट राक्षस है; तू इसे भी नष्ट कर दे । एवं तू उल्लू के आचरण को भी छोड़ दे । जैसे उल्लू को प्रकाश से घृणा होती है उसी तरह जो तुझ में तमो-मयावस्था में पड़े रहने की प्रवृत्ति है, और जहाँ सात्विक भाव तथा ज्ञान प्रकाश की चर्चा देखता है वहाँ से जो तू दूर भागा करता है यह प्रवृत्ति है, इसे तू त्याग दे । इसी तरह 'अहङ्कार' बड़ा बुरा राक्षस है, बाज़ (गरुड़) के समान गर्व घमंड के भाव को भी अब तुझे सर्वथा निकाल देना होगा । और तू अब कुत्ता-पन कब तक करता रहेगा ? कुत्तों की तरह आपस में लड़ना और पराये के सामने दुम हिलाना या जैसे कुत्ता अपने वमन किये को भी चाट लेता है वैसे व्रत कर के त्यागी हुई चीज़ को भी फिर ग्रहण कर लेना इस तरह की पशुतायें तू कब तक करता रहेगा ? तू तो इन्द्र आत्मा है, तेरी आत्म-शक्ति के सामने ये विकार कैसे ठहर सकते हैं ? जैसे दृषत् अर्थात् शिला पर टकरा कर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है वैसे ही, हे आत्मा ! हे इन्द्र ! तेरी भी एक 'मही दृषत्' दारण शक्ति है, तू इसे पहिचान । तेरी आत्मिक दृढ़ता से टकरा कर ये सब मृत विकार (प्राकृतिक माया की वस्तुएं) नष्ट हो जायेंगी । तेरी पुरुषता में, तेरी इन्द्रता में ये पशुतायें कैसे रह सकती हैं ! देवराज इन्द्र के

सामने कोई राक्षस कैसे ठहर सकते हैं ? अतः देखना, अब यदि ये राक्षस तुझ पर हमला करें, तो तेरी चट्टान सदृश आत्मिक दृढ़ता से टकरा कर ये ही स्वयं चकनाचूर हो जायें।

शब्दार्थ—

[हे जीव !] (उलूकयातुं) उल्लू के समान आचरण [मोह] को, (शुशुलूकयातुं) भेड़िये के चलन [क्रोध] को, (श्वयातुं) कुत्ते जैसे व्यवहार [मत्सर] को, (उत) और (कोकयातुं) कोक चिड़िया के आचरण [काम] को (जहि) नष्ट कर दे। (सुपर्णयातुं) बाज की चाल [मद] को (उत) तथा (गृध्रयातुं) गिद्ध जैसे बर्ताव [लोभ] को भी—(रक्षः) इन छओं में से एक-एक राक्षस को (इन्द्र) हे आत्मन् ! तू (दृषदा इव प्रमृण) अपनी दारण-शक्ति द्वारा इस तरह विनष्ट कर दे जैसे शिला से मट्टी का ढेला या मट्टी का बर्तन फूट जाता है।

●

२ भाद्रपद

अहमेताञ्छाश्वसतो द्वा द्वा
इन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत ।
आह्वयमानाँ अव हन्मनाहनं
दृळ्हा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः ।।

ऋ. १०. ४८. ६ ।

विनय

मैं आत्मा अपरिमित बल वाला हूँ। पर फिर भी संसार के द्वन्द्व मुझ से युद्ध करने के लिये आते हैं। ये मुझे दबाना चाहते हैं। ये नहीं जानते हैं कि मैं वज्रवाला हूँ, अमोघशक्ति-युक्त संकल्प बल रखता हूँ। ये द्वन्द्व बड़े शक्तिशाली दीखते हैं। और वास्तव में सब संसार इन्होंने दबा भी रखा है। सब प्राणी गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्व से सताये हुवे हैं, सुख-दुःख के द्वन्द्व के चक्र में सब संसार घूम रहा है। सूक्ष्म राग-द्वेष रूप में रहता हुवा यह द्वन्द्व बड़े-बड़े उच्च पुरुषों का भी पीछा नहीं छोड़ता। पर द्वन्द्वों का यह सब बल तभी तक है जब तक कि इन का सान्मुख्य मुझ आत्मा से नहीं होता। यद्यपि दो-दो (युगल) का नया-नया रूप धर कर सब संसार में व्यापा हुवा यह महाबली द्वन्द्व मुझ आत्मा के सामने भी बड़ा बल दिखाता हुवा और ललकारता हुवा आता है, पर मेरे सामने उसे सम होना पड़ता है। गर्मी-सर्दी, सुख-दुःख, जय-पराजय, मान-अपमान इन सब द्वन्द्वों को, इस की जगह कि ये अपनी द्वन्द्वता में मुझे बांधें, स्वयं अपनी द्वन्द्वता छोड़ कर एक हो कर सम हो जाना अर्थात् समाप्त होना पड़ता है। ये चाहे कितने बली हों, पर अन्ततः ये परिणामी अनित्य प्रकृति के बने हुवे हैं। इन में परिणाम व परिवर्तन आ जाना, इन का झुक जाना स्वाभाविक है। मैं नित्य, अपरिणामी, कभी न झुकने वाला आत्मा हूँ। मैं कैसे दब सकता हूँ ? मेरे तेज, वाग्वज्र, संकल्प-बल के सामने इन्हें ही दबना होता है। क्या मनुष्य शीतोष्ण, लाभ-हानि, हर्ष-शोक, को सह नहीं सकता ? जिस-

जिस शरीर में आत्मा इन सब को सहना चाहता है, वहाँ-वहाँ आत्मा की दृढ़ संकल्पमय सहन शक्ति के सामने ये ठहर नहीं सकते। मैं आत्मा जब दृढ़ता से कहता हूँ कि 'मुझे गर्मी-सर्दी नुक्सान नहीं पहुँचा सकती', 'मैं सुख से सुखी और दुःख से दुःखी नहीं होऊँगा', मैं सिद्धि और असिद्धि में सम रहूँगा' तो मेरे इन दृढ़ वचनों के उच्चारण के साथ चलाए गये मेरे महान् वाक्-वज्र, संकल्पवज्र के सामने ये महाबली द्वन्द्व मर जाते हैं। मेरा यह वज्र अमोघ है। इस वज्र से मैं द्वन्द्व को— बलिष्ठ से बलिष्ठ रूप से विद्यमान द्वन्द्व को मार डालता हूँ। अन्त में मैं सूक्ष्म राग-द्वेष की भी समाप्ति कर पूर्ण विजयी हो जाता हूँ।

हे नर तन धारण करने वालो! सुनो। तुम्हारा आत्मा द्वन्द्वों पर विजय पाने के लिये सिंह-गर्जना कर रहा है। सुनो, और द्वन्द्वों से ऊपर हो जाओ।

शब्दार्थ—

(ये द्वा द्वा) जो ये दो दो कर के आने वाले वाले द्वन्द्व (वज्रं इन्द्रं) मुझ वज्र वाले इन्द्र को (युधये अकृण्वत) युद्ध के लिये बाधित करते हैं, (एतान् शाश्वसतः आह्वयमानान् नमस्विनः) उन इन बड़े बलवान् दिखाई देने वाले और लल-कारने वाले किन्तु अन्त में झुक जाने वाले द्वन्द्वों को (अहं अनमस्युः) मैं कभी न झुकने वाला (दृल्हा वदन्) दृढ़ वाणियां बोलता हुवा मैं आत्मा (हन्मना) अपने हथियार से, अपनी वाक् शक्ति से या संकल्प-बल से (अव अहनं) मार गिराता हूं।

३ भाद्रपद

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे
चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु
विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥

अ. १६. ४. २।

विनय

बहुत वार मैं स्वयं नहीं जानता होता कि मेरा अभिप्राय क्या है। उस अपने आन्तरिक अभिप्राय को स्पष्ट सामने नहीं ला सकता होता। असत्यभाषण असत्यचिन्तन करते-करते नाना भयों या रोगों के वशीभूत होते रहते मेरा मानसिक व्यापार इतना कलुषित और कृत्रिम हो गया है कि मैं उस की गड़बड़ में अपने वास्तविक अभिप्राय को ही खो देता हूँ। अपने सच्चे आशय को दूसरों से छिपाते-छिपाते वह मुझ से भी छिप जाता है। परन्तु मैं अब इस आत्मवञ्चना की अवस्था को त्यागता हूँ और आज से सदा अपनी आकूति (अभिप्राय) को स्पष्ट सामने लाकर रखा करूँगा। मन की इच्छायें, अभिलाषायें जब बुरी होती हैं, दुर्भगा तथा आसुरी होती हैं, तभी हम प्रायः इन्हें छिपाते हैं। जब ये सुभगा और दैवी होती हैं, जब उत्तम ऐश्वर्यों की इच्छा या सब के भले की कल्याणी इच्छा होती है तब भी यदि हम इन्हें छिपाते हैं तो केवल निर्बलता

के कारण या किन्हीं झूठे भय व लज्जा के कारण ही ऐसा करते हैं। अतः जब कि मेरी आकूति सुभगा और दैवी है तो मैं क्यों डरूँ ? क्यों छिपूं ? मैं तो अब इसे सामने स्पष्ट रखता हूँ। मैं आज से अपने जीवन को इतना सच्चा बनाता हूँ, अपने मानसिक क्षेत्र को सत्यज्ञान के प्रकाश से ऐसा प्रकाशित रखता हूँ कि अब मैं मन में घुसी हुई अपनी इस अभिप्राय देवता को हे प्रभो! जब चाहूं तब तुरन्त जान सकूं, पा सकूं, निकाल सकूं। मन (अन्तःकरण) का जो निचला 'चित्त' नामक भाग है जहां कि विचार, अभिप्राय सुप्त रूप में पड़े रहते हैं या यूं कहना चाहिये कि जो चित्त इनका बना हुवा है (जिस चित्त की अभिप्राय माता है) उस स्थान से मैं जब चाहूँ तभी अपने अभिप्राय को पुकार कर ला सकूं। आकूति मेरे लिये सदा सुहवा होवे, सुगमता से पुकारने योग्य होवे। जब आवश्यकता हो तब मैं उसे पुकार कर वैखरी वाणी के रूप में लाकर खड़ा कर सकूं। हे प्रभो! अब मेरी मनोराज्य की सब अव्यवस्था, गड़बड़ दूर कर दो। मैं जब जिस आशा व इच्छा को लेकर चलूं, जिस दिशा में चलूं तब वही केवल अकेली आशा (इच्छा) मेरे सामने रहे, शुद्धरूप में वही प्रकाशमान रहे; और सब गौण विचार (इच्छायें) गड़बड़ न मचाते हुवे यथास्थान पीछे रहें। यदि ऐसी व्यवस्था स्थापित हो जायेगी तो मेरी सब आकूतियां (अभिप्राय) संकल्पशक्ति बन जायेंगी और वे पूर्ण सफल हुवा करेंगी।

शब्दार्थ—

(सुभगा) उत्तम ऐश्वर्य विषयक (आकूतिं देवीं)

अभिप्राय देवता को (पुरो दधे) मैं सामने रखता हूँ, वह (चित्तस्य माता) चित्तभाग की माता, निर्मात्री, बनाने वाली, आकूति (नः सुहवा अस्तु) मेरे लिए सुगमता से बुलाने योग्य होवे। (यां आशां एमि) मैं जिस आशा को करूँ, जिस दिशा में जाऊँ (सा मे केवली अस्तु) वही केवली शुद्धरूप में मेरे सामने होवे। (मनसि प्रविष्टां) अन्तःकरण में घुसी हुई (एनां) इस अभिप्राय-देवता को (विदेयं) मैं सदा जान सकूं, पा सकूं।

•

४ भाद्रपद

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो,
यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत,
मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥

ऋ. ६. ७५. ६। य. २९. ४३।

विनय

रथ में पीछे बैठा हुवा भी सारथि आगे-आगे चलने वाले घोड़ों को ऐसा काबू में रखता है, अपने वश में रखता है कि उन्हें जिधर चाहता है उधर ही ले जाता है। यह कुशल सारथि की महिमा है। पर पीछे बैठा सारथि आगे लगे हुवे घोड़ों से

जिस साधन द्वारा अपना सम्बन्ध जोड़े रखता है, जिस साधन द्वारा दूर से ही उन्हें काबू रखता है, असल में तो उस साधन की अर्थात् अभीशुओं (बागडोर) की स्तुति करनी चाहिये। वे रश्मियाँ (रासें) ही हैं जो कि घोड़ों को सारथि की इच्छानुकूल संयत रखती हैं; घोड़ों को लगाम लगाये रखती हैं। क्या तुमने इन (अभीशुओं) बागडोरों के महत्त्व को समझा? पर ये तो बाहरी अभीशु या रश्मियाँ हैं। असली रश्मियाँ तो वे हैं जो कि मन नामक आन्तर ज्योति की वृत्ति रूप किरणें हैं। अन्तरात्मा रूपी सूर्य की किरणें ही वास्तविक अभीशु या रश्मियाँ हैं जिनके द्वारा वह अन्दर का देव बाहर के साथ सम्बन्ध जोड़े हुवे है और अपने सब वाह्य जगत् को वश में रख रहा है। वेद ने तो कहा है कि यह मन देव ही है जो कि कुशल सारथि की तरह सब मनुष्यों को घोड़ों की तरह इधर-उधर लिये फिरता है (यजु. ३४. ६.)। वास्तव में यह पीछे बैठा हुवा अन्तरात्मा (मनोदेव) अपनी रश्मियों द्वारा ही, अपनी वृत्तियों व संकल्पों द्वारा ही, आगे बैठे हुवे और स्वतन्त्र दीखने वाले सब वाह्य जगत् को चला रहा है। हे मनुष्यो! इन मनोवृत्तियों, मन:संकल्पों, की महिमा को अनुभव करो। इन रश्मियों को, इन बागडोरों को, दृढ़ता से अपने हाथों में पकड़ कर कुशल सारथि की तरह अपने आप को चलाओ, अपने आप पर शासन करो; अपने शरीर को, अपने हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रियों और अपनी ज्ञानेन्द्रियों को जुड़े हुवे अपने घोड़ों की तरह अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहो वहाँ ले जाओ और जहाँ न चाहो वहाँ न ले जाओ। वास्तव में इन रश्मियों को हाथ में

रख कर तुम जो चाहो वह कर सकते हो। बस केवल इन मनोवृत्तियों, मनःसंकल्पों को दृढ़ता से पकड़ लेने की देर है। फिर तुम अपने आप को जहाँ जैसा चलाना चाहोगे वैसे ही तुम्हारी इन्द्रियों आदि सब को चलना होगा। तुम आत्मवशी हो जाओगे। और तब तुम देखोगे कि तुम जहाँ अपने आप को जैसा चाहते हो वैसा हिलाते हो वहाँ सब बाह्य संसार को भी जैसा चाहते हो वैसा हिला रहे हो। यह सब अभीशुओं की, रश्मियों की, महिमा है।

शब्दार्थ—

(रथे तिष्ठन्) रथ पर पीछे बैठा हुवा (सुषारथिः) अच्छा सारथि (पुरः) आगे लगे हुवे, आगे चलने वाले (वाजिनः) घोड़ों को (यत्र-यत्र कामयते) जहाँ-जहाँ चाहता है वहाँ (नयति) ले जाता है। (अभीशूनां) बागडोरों की या मन की वृत्तिरूप किरणों की (महिमानं) महिमा की (पनायत) स्तुति करो। क्योंकि (पश्चात्) पीछे लगी हुई भी ये (मनः) मन [सारथि] की (रश्मयः) रश्मियाँ, रासें, आगे लगे हुवे घोड़ों को (अनुयच्छन्ति) अपने अनुकूल संयत रखती हैं।

•

५ भाद्रपद

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो

अस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।

प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि
विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥
ऋ. १०. ८४. ५। अ. ४. ३१. ५।

विनय

हे मन्यु ! हम चाहते हैं कि तू हमारे अन्दर रहे, हमारे अन्दर उत्पन्न हुवा करे। हे मन्यु ! तू देव है। तू हम में निवास कर। यद्यपि क्रोध भी तुझ मन्यु से मिलती जुलती सी चीज़ है, पर असल में क्रोध में और तुझ में आकाश पाताल का फ़र्क है। हे मन्यु ! तुम देव हो, पर क्रोध असुर है। तुम दोनों का उद्भव स्थान ही बिलकुल उलटा है। हे मन्यु ! हम तेरे उद्भव स्थान को जानते हैं, उस स्रोत को जानते हैं जहाँ से कि तू निकलता है। निर्मल मन के मूल में विद्यमान जो विशुद्ध आत्मा है वह तेरा स्रोत है। वहाँ से तेरा उद्भव होता है इस लिये तू देव है। क्रोध का उद्‌भव तो विकारयुक्त मन से होता है, द्वेष-दूषित मन से होता है, दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना से होता है। क्रोध में मनुष्य स्वयं पागल हो जाता है, विवेकहीन हो जाता है। दूसरे को हानि लाभ पहुँचाने की वास्तविक शक्ति क्रोध में नहीं होती। क्रोध निर्वीय होता है। पर हे मन्यो ! तुम तो एक बड़ी प्रबल शक्ति हो, तुम विजय लाने वाली दैवी शक्ति हो। विशुद्ध आत्मा के स्रोत से जो एक इच्छा सी उठती है, जो एक राग-द्वेष से शून्य इच्छा होती है, जो पाप को हटाने के लिये एक शान्त गम्भीर प्रबल प्रेरणा होती है, वह एक अद्भुत

शक्ति होती है। और वही हे मन्यो! तुम्हारा स्वरूप है। उस रूप में तुम जो चाहते हो उसे कोई रोक नहीं सकता! तुम जो बोलते हो उसे कोई दबा नहीं सकता, नीचा नहीं कर सकता। इन्द्र (आत्मा) ही की तरह तुम्हारी आवाज़ भी अदम्य है। तुम्हारे आगे कोई ठहर नहीं सकता। तुम पाप को जड़ से उखाड़ फेंकते हो। इस लिये हे मन्यो! इस संसार में, इस जीवन संग्राम में तुम मेरे अधिष्ठाता हो कर मेरी रक्षा करते रहो। तुम 'सहुरि' हो, तुम में असीम सहनशीलता है। तुम्हें 'सहुरि' इस नाम से पुकारना मुझे बड़ा प्रिय है। जहाँ क्रोध ज़रा भी सहन नहीं कर सकता वहाँ तुम में अनन्त सहन शक्ति होती है; इसी कारण से तुम अजेय हो, अन्त में अवश्य ही विजय लाने वाली अखण्डनीय शक्ति हो। हम तुम्हें पुकारते हैं। जब-जब संसार में पाप अत्याचार के विनाश के लिये तुम्हारी ज़रूरत हो तब-तब तुम मेरे विशुद्ध आत्मा में से आ प्रकट होते रहो।

शब्दार्थ—

(मन्यो) हे मन्यो! (तं उत्सं विद्म) हम उस स्रोत को जानते हैं (यतः आबभूथ) जहाँ से तुम उत्पन्न होते हो। तुम (विजेषकृत्) विजय करने वाले हो और (इन्द्रः इव अनवब्रवः) इन्द्र 'आत्मा' की तरह तुम भी कभी न दबायी जा सकने वाली आवाज़ वाले हो। (इह अस्माकं अधिपा भव) तुम इस संसार में हमारे अधिष्ठाता पालक होओ। (सहुरे) हे सहुरि! हे सहनशील! (ते प्रियं नाम गृणीमसि) हम इस तेरे प्यारे नाम से तेरी स्तुति करते हैं।

६ भाद्रपद

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुः
उताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति
उतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥

ऋ. १०. ११७. १।

विनय

देवों ने मनुष्य को भूख क्या दी है, एक मौत दे दी है। दुनियां भूख के मारे, बेरोज़गारी-ग़रीबी के मारे मरी जा रही है। इसलिये दूसरे को खिला कर खाना, ग़रीबों के पेट के सवाल को हल करना वास्तव में बड़ा भारी पुण्य है, बड़ा भारी कर्तव्य है। यह मरने से बचाना है। पर इस का यह मतलब नहीं कि भूख और ग़रीबी का ही कोई मरने से सम्बन्ध है। परमेश्वर ने केवल भूख रूप में ही मौत नहीं दी है, किन्तु जो खूब खाते-पीते अमीर लोग हैं उन पर भी उन की मौत नाना प्रकार से पहुँचती है। ऐसा अमीर से अमीर कौन मनुष्य है जो मरेगा नहीं ? अतः दूसरे बेशक कहीं भूखे मरते हों। मेरा तो पेट भर रहा है इस तरह निश्चिन्त हो जाना मूर्खता है। जिस के पास है उसे जरूरत वाले को देना ही चाहिये। हम अकेले नहीं हैं किन्तु हमारा जीवन सम्पूर्ण जन-समाज के साथ जुड़ा हुवा है। यदि हम इतना समझते हों तो हमारा यह डर हट

जावे कि दूसरे को दान देने हमारा धन घट जायेगा । हम जिस पात्र को धन देते हैं वह हम ही हैं और उस दान से जो एक आवश्यकता पूरी होती है उस से हम बढ़ते हैं, उस से हमारी उन्नति होती है और अन्त में हमारा वैयक्तिक सुख और धन भी बढ़ता है। हम रोज़ देखते हैं कि जो ज़रूरत पर देता है उसे ज़रूरत पर उदारता पूर्वक मिलता है जो न देने वाले होते हैं वे समाज से कटे हुए से रहते हैं, उन का न कोई मित्र होता है न उन्हें कोई सुख सहायता पहुँचाने की आवश्यकता समझता है । मनुष्य धन से नहीं जीता है। जिन के बिना वह रह नहीं सकता है वह तो ज्ञान, बल, सुख, सौहार्द, प्रेम आदि अत्यन्त मूल्यवान् वस्तुएँ हैं इसलिये यद्यपि इतना ठीक है कि संसार में भूखे के के साथ पेट-भरे भी मरते ही हैं और दान देने वाले और न देने वाले दोनों प्रकार के पेट-भरे मरते हैं, तो भी भेद यह है कि देने वाले को तो ये अमूल्य जीवनदायी सम्पत्तियां मिलती हैं और उस का धन घटता नहीं; पर न देने वाला पुरुष इन से वंचित हो कर अपना सुखहीन संकुचित मुर्दा सा ही जीवन बिताता है।

शब्दार्थ—

(देवाः) देवों ने (न वै उ) न केवल (क्षुधं इत्) भूख ही के रूप में ही (वधं) मौत (ददुः) दी है (उत) अपितु (आशितं) खाते-पीते अमीर को भी (मृत्यवः) नाना तरह से मौत (उपगच्छन्ति) आती हैं । (उत उ) और (पृणतः) देने वाले की (रयिः) धन सम्पत्ति (न) नहीं (उपदस्यति)

क्षीण होती, कम होती (उत) अपितु (अपृणन्) जो दान देने वाला है वह कभी (मर्डितारं) अपने किसी सुख देने वाले को (न विन्दते) नहीं पाता, नहीं प्राप्त करता।

७ भाद्रपद

अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशत्
व्रतानि देवः सविताभिरक्षते।
प्रास्त्राग् बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो
धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति॥

ऋ. ४. ५३. ४।

विनय

सविता देव के परम शासन को देखो। यह धृतव्रत देव इस महान् ब्रह्माण्ड पर कैसे हुकूमत कर रहा है यह देखो। इस 'अदाभ्य' सच्ची सरकार के कुछ सच्चे कानून हैं, व्रत हैं, जिन्हें कि कभी दबाया नहीं जा सकता। ये व्रत, कानून इस संसार में अखण्ड, अटल, परिपूर्ण रूप से चल रहे हैं; वह अपने इन व्रतों की सब तरह सतत रक्षा कर रहा है, इसलिये उस की यह सरकार परिपूर्ण और अखण्ड चल रही है। इन व्रतों की सतत रक्षा के लिये उस ने इस विश्व के सब भुवनों को, क्षेत्रों को प्रकाशित किया है, ज्ञान प्रकाश से युक्त किया है। बिना ज्ञानप्रसार किये, बिना सत्य ज्ञान को आधार बनाये कोई भी कानून नहीं रक्षा

पा सकता, नहीं चलाया जा सकता । और फिर उस का यह ज्ञानप्रसार भी इतना परिपूर्ण है तथा इतना प्रेममय और सर्वगत है कि उस ने अपने इस ब्रह्माण्ड के राज्य के एक-एक प्रजा तक—एक-एक जीव तक—अपनी ज्ञान किरणों की प्रेममय बाहुओं को फैला रखा है, और इन्हीं प्रेममय बाहुओं द्वारा वह घुस कर अपने कानून का पालन करवा रहा है । पर उस के ये व्रत जो इतने परिपूर्ण अखण्ड रूप से चल रहे हैं इस का मूल कारण तो यह है कि उस ने स्वयं इन व्रतों को अपने में पूर्णतया धारा हुवा है, वह स्वयं धृतव्रत है । वह व्रतमय है । वह इन व्रतों का धारक महासूर्य है । हमें इस संसार में जो सत्य नियमों के रूप में ये व्रत दिखाई देते हैं वे तो उसी की किरणें मात्र हैं जो कि उस व्रत-महासूर्य से कोटि-कोटि प्रलयों तक अनन्त काल तक हम पर आती रहेंगी और हम जीवों को नित्य नया जीवन, ज्ञान और बल देती रहेंगी ।

आओ हम उस की फैली हुई इन प्रकाशयुक्त प्रेममय बाहुओं का संस्पर्श सदा अनुभव करते रहें और उस की प्यारी प्रजा बने रहें ।

शब्दार्थ—

(सविता देवः) सर्वप्रेरक देव (भुवनानि प्रचाकशत्) भुवनों को ज्ञान से प्रकाशित करता हुवा (अदाभ्यः) अदम्य, न दबने वाला हो कर (व्रतानि) संसार में अपने सत्य नियमों की, कानूनों की (अभिरक्षते) पूरी तरह रक्षा कर रहा है । उस ने (भुवनस्य) संसार की (प्रजाभ्यः) सब प्रजाओं के लिये (बाहू) अपने बाहू (प्रास्राक्) फैलाये हुवे हैं, इस तरह वह

(धृतव्रतः) धृतव्रत हो कर (महः अज्मस्य) इस महान् जगत् पर (राजति) राज्य कर रहा है।

८ भाद्रपद

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश
स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तित:
तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥

ऋ. १०. ११४. ४।

विनय

संसार में आया हुवा जीव क्या है? यह एक सुपर्ण पक्षी है जो कि अन्तरिक्ष-समुद्र में विहार करने आया हुवा है। यह अपने ज्ञान और कर्म के पंखों से इधर उधर उड़ता हुवा इस सब भुवन को विविध प्रकार से देखने का मज़ा ले रहा है। संसार-सागर में मनोमयादि सूक्ष्म संसारान्तरिक्ष में, एक योनि से दूसरी योनि में भोग भोगने के लिये फिरता हुवा और वहाँ-वहाँ विविध प्रकार के भोगों को प्राप्त करता हुवा यह जीव गति कर रहा है, उड़ रहा है। अभी तक जीव को मैं इसी संसाराकाश के विहारी सुपर्ण के रूप में देखता रहा हूँ, पर आज समीपता से देखा है, ज्ञानपरिपक्व हुवे मन से इसे समीपता से देख रहा हूँ, तो इस जीव-प्रकृति—संयोग को मैं और ही रूप में

देख रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि उसे माता चूम रही है और वह माता को चाट रहा है। प्रकृति माता—मैं कहूँगा परमेश्वरी प्रकृति—जीव से प्रेम कर रही है और जीव इस माता से सुख पा रहा है। जीव के प्रकृति से जुड़ने का, जीव के संसार में आने का यही रहस्य है। कई ऋषि कहते हैं कि जीव और प्रकृति का संयोग लूले और अन्धे का संयोग है, पर यह बात शायद परमेश्वरहीन प्रकृति के विषय में होगी। परमेश्वरी प्रकृति तो अन्धी नहीं है। मुझे तो यह सम्बन्ध माता और पुत्र का लगता है। इस लिये यह सम्बन्ध केवल भोग में नहीं किन्तु अपवर्ग में (अपवर्ग के भोग में) भी बना रहता है। पुत्र माता के बिना नहीं रह सकता, और माता पुत्र को चाहती है। ऋषि ने ठीक कहा है 'पृथ्वी सब भूतों को मधु है और सब भूत पृथ्वी को मधु हैं'[1] वास्तव में दोनों एक दूसरे से सुख पा रहे हैं, और एक दूसरे को सुख दे रहे हैं। क्या हम ही प्रकृति से सुख पाते हैं और प्रकृति हम से सुख नहीं पाती? नहीं। ज़रा प्रकृति को बेजान, मत समझो, प्रकृति को 'परमेश्वर की प्रकृति' के रूप में देखो।

शब्दार्थ—

(एकः सुपर्णः) एक सुपर्ण पक्षी है, (सः) वह (समुद्रं) इस ससारान्तरिक्ष के समुद्र में (आविवेश) आया है, (सः) वह [अन्तरिक्ष में विहार करता हुवा] (इदं विश्वं भुवनं) इस

---

१ प्रसिद्ध मधुविद्या के ऋषि दध्यङ् आथर्वण के ये वचन हैं। देखो, बृह. उ. २ अध्याय का पञ्चम ब्राह्मण।

सम्पूर्ण संसार को (विचष्टे) विविध प्रकार से देखता है, इस का मज़ा लेता है परन्तु (तं) उसे (पाकेन मनसा) परिपक्व ज्ञान वाले मन से (अन्तितः) समीपता से (अपश्यं) देखा है तो मैं देखता हूँ कि (तं) उसे (माता) माता (रेढि) चूम रही है (सः उ) और वह (मातरं) माता को (रेढि) चाट रहा है ।

६ भाद्रपद

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये
देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह ।
सा नो दुहीयद् यवसेव गत्वी
सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥

ऋ. १०. १०१. ९ ।

विनय

हे देवो ! मैंने तुम्हारी कामधेनु को जान लिया है । मैंने देख लिया है कि सचमुच इस धेनु से मैं अपनी सब कामनायें दुह सकता हूँ । यह कामधेनु 'यज्ञिया धीः' है, यज्ञपरायणा बुद्धि है । इस यज्ञबुद्धि को पाकर—इस दिव्य, सर्वपूजित यज्ञपरायणा बुद्धि को पाकर—मैं क्या नहीं पा सकता ? क्या कृष्ण भगवान् ने भी अर्जुन को नहीं सुनाया था कि प्रजापति ने हम प्रजाओं के साथ ही यज्ञ-भावना को पैदा कर के हमें कह दिया है 'अनेन

प्रसविष्यध्वम्, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'। हम में यज्ञ-भावना को पैदा करने वाले उस प्रजापति परमदेव की यह आवाज़ मैं तो आज भी सुन रहा हूं। इस यज्ञबुद्धि द्वारा तुम सब कुछ उत्पन्न करो, यह तुम्हारी सब इष्ट कामनाओं को दुहने वाली होवे। परन्तु मुश्किल यह है कि यज्ञ भावना मुझ में स्थिर नहीं रहती, बहुत वार स्वार्थभावना इसे दबा देती है, इसे भगा देती है। इस लिये मैं इसे फिर-फिर अपने अन्दर लाता हूँ, यज्ञ के सर्व-हितकारी, स्वार्थसंहारी, संगमनकारी स्वरूप को बार-बार हृदय में स्थापित करता हूँ। इस भाव का सतत चिन्तन व जप करता हूँ।

सचमुच इस के बिना हम मनुष्यों का रक्षण व पालन नहीं हो सकता। यही देख कर हम लोग इस धेनु को अपने अन्दर लाना चाहते हैं हमारी सांसारिकता, स्वार्थबुद्धि बहुत वार इसे बिदका कर भगा देती है, तब हम सर्वहितचिन्तन द्वारा इसे फिर लाते रहते हैं। हे देवो! अब तो यह 'यज्ञिया धीः' रूपी धेनु हम में स्थिर हो जावे और जौ के हरे खेत खा कर आयी बड़ी गौ की तरह हमें अपने दूध की सहस्रों धाराओं से परिपूर्ण कर देवे, परिपूर्ण कर देवे।

शब्दार्थ—

(देवाः) हे देवो! मैं (वः) तुम्हारी (देवीं) दिव्य (यजतां) पूज्य (यज्ञियां) यज्ञपरायणा (यज्ञियां धियं) यज्ञिय बुद्धि को, यज्ञ भावना को (ऊतये) अपने रक्षण पालन के लिये (इह) अपने जीवन में (आवर्ते) फिर-फिर लाता हूँ, स्थापित करना चाहता हूँ। (सा) वह यज्ञिय बुद्धि (यवसा गत्वी इव)

जैसे जौ के खेत में जाकर आयी हुयी (सहस्रधारा मही गौः) दूध की सहस्रों धारा देने वाली बड़ी भारी गौ (पयसा) हमें दूध से भर देती है वैसे (नः) हमें (दुहीयत्) प्रपूरण कर देवे, हमारी सब कामनाओं को पूरण कर देवे।

१० भाद्रपद

स दर्शत श्रीरतिथिर्गृहे गृहे
वने वने शिश्रिये तक्कवीरिव।
जनं जनं जन्यो नातिमन्यते
विश आक्षेति विश्यो विशं विशम्॥

ऋ. १०. ९१. २।

विनय

अग्निदेव की विभूति देखो। अग्नि घर-घर में जल रहा है, अग्निहोत्री पुरुष अतिथि की तरह प्रातः सायं इस अग्नि को अपने घर उद्बुद्ध और सत्कृत कर रहे हैं तथा दिव्य लाभ पा रहे हैं। इस के अतिरिक्त प्रदीप्त इस स्थूल अग्नि से जो अन्य अनगिनत सांसारिक कार्य और उपकार हो रहे हैं उन्हें भी हम सब जानते हैं। पर यह अग्नि अपने सूक्ष्म अप्रदीप्त रूप में तो प्रत्येक जंगल में, प्रत्येक वृक्ष में, प्रत्येक समिधा में भी चोर की तरह छिपा बैठा है। प्रत्येक लकड़ी में ही नहीं, किन्तु पानी में, किरण में प्रत्येक सेवनीय पदार्थ में छिपा हुवा है। और वैज्ञा-

निक लोग इस प्रत्येक वस्तु में व्यापक भौतिक अग्नि का असंख्यों प्रकार से उपयोग ले रहे हैं। पर भौतिकी के वैज्ञानिक भी जिस सूक्ष्मता में नहीं घुस पाते उस में घुस कर देखें तो हमें दीखता है कि ये अग्निदेव प्रत्येक जीवित प्राणी में भी उस का जीवन (Life) और आत्मा हो कर विराजमान है । प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को बनाता हुआ यह अग्नि जन-जन में बैठा हुआ है। इसी के कारण प्रत्येक जन अपने व्यक्तित्व में बँधा हुआ है, अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। इस आत्माग्नि की ही अनन्तप्रकारता को हम देखने लगें और इस अग्नि की विविध किरणों और रूपों को देखने लगें तो इस का ही हम पार न पा सकें। परन्तु इस जन्य (जन हितकारी) अग्नि के अतिरिक्त अन्य भी रूप यह अग्नि धारण करती है। यह अग्नि एक विश में, एक प्रजा में, एक जनसमूह में भी निवास करती है। एक-एक प्रजाजन में बस कर भी उस का अतिक्रमण कर के यह अग्नि सम्पूर्ण प्रजा की हितकारी, विश्य, अग्नि हो कर सम्पूर्ण प्रजा का जीवन व आत्मा भी बनती है। यही विश्य अग्नि समाजाग्नि व राष्ट्राग्नि के रूप में प्रगट होती है, जिस में कि बड़े-बड़े जनसमूह भी समय आने पर आत्महवन किया करते हैं। इस तरह इस अग्निदेवता की विभूति अनन्त प्रकार से दर्शनीय है, इस का पार वाणी नहीं पा सकती।

शब्दार्थ—

(दर्शतश्रीः) दर्शनीय विभूति वाला (सः) वह अग्निदेव (गृहे-गृहे) घर-घर में (अतिथिः) अतिथि बना हुवा है और (वने वने) वन-वन में, हरेक वस्तु में (तक्वीः इव) चोर की तरह

(शिश्रिये) छिपा पड़ा है। (जन्यः) जन-हितकारी रूप में वह अग्नि (जनं जनं) व्यक्ति-व्यक्ति में ठहरा हुवा (न अतिमन्यते) व्यक्तित्व का अतिक्रमण नहीं करता और (विश्यः) सम्पूर्ण प्रजा हितकारी रूप में वह अग्नि (विशं विशं) एक-एक प्रजा-जन में बसता हुवा (विशः) सम्पूर्ण प्रजा में (आचेति) निवास करता है।

११ भाद्रपद

सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुः
अग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित् ।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद्
द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः ॥

ऋ. १०. ९१. ३।

विनय

हे परम अग्ने, हे परमेश्वर ! इस जगत् की नानाविध अग्निओं से जो नाना प्रकार के बल प्रकट हो रहे हैं, वे सब असल में तेरे ही बल हैं। भेद इतना है कि इन के ये अपूर्ण बल तो बहुत वार दूषित बल होते हैं, पर इन के मूल में रहने वाला तू सदा परिपूर्ण बली और शोभन बली है। इसी तरह जगत् की भौतिक अभौतिक अग्नियों द्वारा जो निरन्तर अनगिनत क्रियायें और चेष्टायें की जा रही हैं वे भी असल में तुम

सुक्रतु से, तुझ शोभनकर्मा से, प्रवाहित हो रही हैं। तुझ से तो ये सब कर्मप्रवाह निर्मल रूप से ही निकल रहे हैं, किन्तु आगे चल कर ये नाना प्रकार से मलिन और दूषित हो जाते हैं। और जगत् में जो बहुत सी आत्माग्नियाँ, जनाग्नियाँ अपने थोड़े बहुत ज्ञान से, क्रान्तदर्शी ज्ञान से, कवित्व से प्रकाशित हो रही हैं उन का भी कारण तू ही परिपूर्ण और सर्वज्ञ कवि है। संसार के ऊँचे से ऊँचे कवि ज्ञानी तेरे ही अक्षय नित्य काव्य से तेरे ही ज्ञान, महाग्नि से चिनगारियाँ प्राप्त कर के चमक रहे हैं। यही नहीं, किन्तु सब वसुओं का वसु, सब धनों का धन तू ही है। इस सम्पूर्ण द्यावापृथिवी में जो वसु जो ऐश्वर्य उपजते हैं—द्युलोक के ऊँचे से ऊँचे अकल्पनीय अध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा भूलोक के सब भौतिक ऐश्वर्य—ये सब तुझ में ही निवास करते हैं। इन वसुओं का वासक—एकमात्र वासक—तू ही है। हम नासमझी से समझते हैं कि ऐश्वर्य उस-उस लोक के हैं, किसी और के हैं। इसलिये, हे सब बलों से सुबली! हे सब कर्मों के शोभन आधार! हे परमकवि! हे सब रत्नों के भण्डार! तुम्हें हमारा बारबार नमस्कार है।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! तू (दक्षैः) बलों से (सुदक्षः) शुभ बल वाला, (क्रतुना) कर्म से (सुक्रतुः) शोभन कर्म वाला (असि) है, और (काव्येन) अपने काव्य से (विश्ववित् कविः) सर्वज्ञ कवि (असि) है। (वसूनां वसुः) वसुओं का भी वसु [वासक], धनों का धन हो कर, (यानि) जिन ऐश्वर्यों को (द्यावा च पृथिवी च) सम्पूर्ण द्युलोक और पृथिवी लोक

(पुष्यतः) उपजते हैं, बढ़ाते हैं, उन सब ऐश्वर्यों को (त्वं) तू (एक इत्) अकेला ही (क्षयसि) अपने में बसाता है ।

१२ भाद्रपद

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो
बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः ।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहः
अपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये ॥

ऋ. १०. ६६. ८।

विनय

असल में प्रत्येक संग्राम पाप का विनाश करने के लिये ही लड़ा जाना चाहिये । इसीलिये संग्राम का वैदिक नाम 'वृत्र-तूर्य' होता है । पर ऐसे पवित्र संग्राम को लड़ने का अधिकारी हर कोई नहीं हो सकता है । क्या तुम भी चाहते हो कि तुम किसी 'वृत्रतूर्य'[1] में सैनिक बन सको ? तो तुम्हें अपने आप को निम्न आठ गुणों से विशिष्ट बनाना होगा ।

१. सब से पहिले इस पवित्र कार्य के लिये व्रत को या व्रतों को धारण करो और उन पर अडिग रहो; धृतव्रत होओ।

---

१ वृत्र अर्थात् पापबाधा या पाप के अन्धकारमय विस्तार को तूर्य अर्थात् विनाश करने वाला ।

२. सच्चे क्षत्रिय अर्थात् क्षत से त्राण करने वाले होओ। पीड़ित लोगों की रक्षा करने के भाव से ही युद्ध में प्रवृत्त होओ । ३. यज्ञ के, स्वार्थत्यागमय और सर्वहितकारी कर्म करने वाले, सर्वात्मभाव से करने वाले बनो; अपने पवित्र सग्राम को भी यज्ञ ही समझ कर करो । ४. बड़े दीप्तिमान् बनो; तप, ब्रह्मचर्य आदि द्वारा महान् तेज का अपने में संग्रह करो । ५. तुम्हारी शोभा तुम्हारा अहिंसामय व्यवहार होवे । तुम सर्वथा अहिंसामय, यज्ञिय, प्रेमभरे कर्मों के सेवन करने वाले होओ और इस के लिये प्रसिद्ध होओ । ६. अग्निहोत्र करने वाले, अग्निदेव को अपने में आह्वान करने वाले बनो । ७. पूरे सत्यनिष्ठ होओ, ऋत के साथ, सत्यनियम के साथ, अपने आप को एक कर दो । सर्वथा सत्य का ही सेवन करो । ८. और अद्रोही होओ । तुम्हारे व्यवहार से कभी किसी को धोखा न पहुंचे, तुम्हारा मन कभी किसी का बुरा न चाहे । जो इस प्रकार के वीर महानुभाव होते हैं वे ही पवित्र 'वृत्रतूर्य' संग्रामों में चल सकते हैं, वे ही इन दिव्य युद्धों में इन के अनुकूल ठीक-ठीक काम कर सकते हैं ।

शब्दार्थ—

(धृतव्रताः) व्रत धारण किये हुए (क्षत्रियाः) सच्चे अर्थों में क्षत्रिय (यज्ञनिष्कृतः) यज्ञ कर्मों को निःशेषेण करने वाले (बृहद्दिवा) महातेजस्वी (अध्वराणां अभिश्रियः) अहिंसामय कृतियों के सेवन करने वाले, उन से शोभने वाले (अग्निहोतारः) अग्नि का हवन वा आह्वान करने वाले (ऋतसापः) सत्य से समवेत हुवे-हुवे (अद्रुहः) कभी द्रोह न करने

वाले पुरुष ही (वृत्रतूर्ये) पापनाशक संग्राम में (अनु) तदनुकूल (अपः) कर्मों को (असृजन्) करते हैं।

१३ भाद्रपद

ऋतूयन्ति ऋतवो हृत्सु धीतयो
वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो
देवेषु मे अधि कामा अयंसत ॥

ऋ. १०. ६४.२।

विनय

देवों की शरण में जाये बिना अब मुझे चैन नहीं मिल सकता। ज्ञान और प्रकाश की इस दैवी अवस्था में ही सुख है। संसार में और कहीं सुख नहीं है। लोग भले ही मोह आलस्य और निष्क्रियता में भी सुख मानते हों पर मुझे तो यह तामसिक अवस्था सह्य नहीं है। और जो दूसरे रजः—प्रवृत्त लोग सुख पाने के लिये दिन-रात विषयों में दौड़ धूप कर रहे हैं उन की उस आसुरी अवस्था से भी मेरा जी घबराता है, उन का यह उत्तेजनापूर्ण 'सुख' मुझे काटता है, दुःखरूप लगता है। सचमुच सुख तो दैवी भाव में रहने में ही है। सुख 'सत्व' का ही धर्म है और देवलोक (द्युलोक) की ही वस्तु है। तो देवों के बिना और कहाँ से हमें सुख मिल सकता है इस लिये अब

मैं सदा दैवी भाव में, सदा देव संसार में ही रहना चाहता हूं। यद्यपि मेरे हृदय में धरे हुवे नाना संकल्प संकल्पित हुवा करते हैं, उठा करते हैं, नाना प्रेममय कामनायें अपने विषय को चाहती हुई उदय होती हैं और नाना निर्देश व प्रेरणायें इधर-उधर से आती रहती हैं, परन्तु अब मैं अपने इन सब संकल्पों, कामों और प्रेरणाओं को देवों में ही नियमन करता हूँ। नियम और संयम द्वारा अपनी सब कामनाओं को देवसंसार से बाहर नहीं जाने देता। मेरे अन्दर जो इन्द्रिय आदि देव, मन की सात्विक अकृष्टवृत्ति रूप देव तथा सूक्ष्म संसार के देव हैं एवं बाहर के सच्चे सरल ज्ञानप्रकाश वाले पुरुष-देव तथा सत्य नियमों से चलने वाले अग्नि आदि प्राकृतिक देव हैं उन्हीं के विषय में अब मेरे सब हृदयस्थ संकल्प संकल्पन कर रहे हैं, उन्हें ही ये मेरी सब प्रेममय अभिलाषायें चाह रही हैं और उन्हीं के सम्बन्ध में अब मुझ में तरह-तरह के निर्देश व प्रेरणायें आती व उठती रहती हैं। मैं और क्या करूँ ? इन देवों के सिवाय और कोई इस संसार में सुख दे सकने वाला नहीं है।

शब्दार्थ—

(हृत्सु धीतयः) हृदय में धरे हुवे (क्रतवः) संकल्प (क्रतूयन्ति) [देवों का] संकल्पन कर रहे हैं, (वेनाः) प्रेम-मय कामनायें इच्छायें (वेनन्ति) [देवों की] कामना कर रही हैं, चाह रही हैं और (दिशः) [देवों के सम्बन्ध में] निर्देश प्रेरणायें (आपतयन्ति) इधर-उधर से आ रही हैं, पहुँच रही हैं। निःसन्देह (एभ्यः) इन देवों के (अन्यः) सिवाय और

कोई (मर्डिता) सुख दे सकने वाला (न) नहीं (विद्यते) है, अतः (मे) मेरी (कामाः) सब कामनायें, सब संकल्प अभिलाषा तथा प्रेरणायें (देवेषु अधि) देवों में ही (अयंसत) नियमित हो गई हैं।

१४ भाद्रपद

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा
बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो
दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥

ऋ. १०. ६३. ४।

विनय

देव लोग कैसे रहते हैं और वे कहाँ रहते हैं ?

देव स्वयं अमरपन को पा कर भी लोक कल्याण के लिये अपना जीवन धारण करते हैं। ये सदा अपने दैवी भाव में रहते हैं।

ये अपने ज्ञानप्रकाश द्वारा मनुष्यों को ठीक-ठीक देखते हैं, प्रत्येक मनुष्य के असली रूप को पहिचान लेते हैं। ये कभी अपनी आँखें बन्द नहीं करते, सदा जागरूक रहते हैं, तमोगुण के कभी वशीभूत नहीं होते हैं। ऐसे ये पूज्यदेव, सम्पूर्ण लोक के कल्याण में रत होने के कारण सम्पूर्ण लोक के पूज्य ये देव,

महान् अमृतत्व को प्राप्त होते हैं । सापेक्षिक और स्वल्पकालिक अमरपन तो हमें भी प्राप्त हुवा करता है, पर ये देव उस महान् ऊँचे अमरपन को पहुंचे होते हैं जहाँ मृत्यु कोई चीज़ नहीं रहती है, मरना-जीना एक हो जाता है ।

ज्योति, प्रज्ञालोक[1], ही इन का रथ होता है। अपने प्रज्ञा-लोक पर चढ़ कर ये जहाँ चाहते हैं वहाँ विचरते हैं । इन की इस प्रकाशमयी प्रज्ञा (माया) को कोई दबा नहीं सकता, इन की प्रज्ञा को धोखे में नहीं डाला जा सकता । ऐसे ये निष्पाप देव सदा द्युलोक के शरीर में रहते हैं । भौतिक तौर पर ये कहीं न रहते हुवे आध्यात्मिक तौर पर सदा अपनी दैवी समावस्था में बसते हैं । मानो द्युलोक के सत्व को सदा ओढ़े रहते हैं । इस दिव्य वस्त्र से अपने को आच्छादित किये फिरते हैं । और इस दिव्य जीवन को ये 'स्वस्ति' के लिए; सब जगत् के कल्याण के लिए धारण किये होते हैं ।

शब्दार्थ—

(नृचक्षसः) मनुष्यों को ठीक-ठीक देखने वाले (अनिमिषन्तः) कभी न सोने वाले (अर्हणाः) सर्वपूज्य (देवासः) देव लोग (बृहत् अमृतत्वं) महान् अमरपन को (आनशुः) प्राप्त हुवे हैं । (ज्योतीरथाः) ज्योति ही जिन का रथ है और (अहिमायाः) जिन की प्रज्ञा का घात नहीं किया जा सकता है (अनागसः) ऐसे ये निष्पाप देव (स्वस्तये) सब जगत् के

१ योगदर्शन पाद ४, सूत्र ५–६ ।

कल्याण के लिए (दिवः वर्ष्मणि वसते) द्युलोक के शरीर में रहते हैं दिव् के श्रेष्ठ सत्व से अपने को आच्छादित किये रखते हैं।

०

१५ भाद्रपद

तन्तुं तन्वन्नूजसो भानुमन्विहि
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्वणं वयत जोगुवामपो
मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥

ऋ. १०. ५३. ६।

विनय

हे जुलाहे! तू बुन, तू दिव्य खद्दर बुन।

हे जीव! तू हमेशा कुछ न कुछ बुनता रहता है। अपने भाग्य को, अपने भविष्य को; अपने जीवन को बुनता रहता है। जीवन इस के सिवाय और क्या है कि मनुष्य अपने ज्ञान (समझ) के अनुसार कुछ दूर तक देखता है और फिर उस के अनुसार कर्म करता जाता है। इस तरह जीव अपने ज्ञान के ताने में कर्म का बाना डालता हुवा निरन्तर अपने जीवन-पट को बनाया करता है। किन्तु हे जीव-जुलाहे! अब तू अपना यह मामूली रद्दी कपड़ा बुनना छोड़ कर दिव्य जीवन का खद्दर बुन, 'दैव्यजन' को उत्पन्न कर। इस के लिये तुझे बड़ी सुन्दर और बड़ी लम्बी तानी करनी पड़ेगी। तू अपने रजः के, ज्योति के,

ज्ञानप्रकाश के चमकीले ताने को तनता हुवा भानु तक, द्युलोक तक चला जा। द्युलोक तक विस्तृत प्रकाशमान ताना तन। दिव्य पट के लिये यह जरूरी है। ऐसे दिव्य वस्त्र बनाने की लुप्त हुई कला की रक्षा इसी तरह हो सकती है। अतः इस उद्योग में पड़ कर तू उन ज्ञानप्रकाशमय प्रणालियों की रक्षा कर, जिन्हें कि कलाविदों ने अपनी कुशल बुद्धि द्वारा बड़े यत्न से आविष्कृत किया था। दिव्य-जीवन बनाने में पड़ कर उन देवयानादि प्रकाशमान मार्गों की रक्षा कर जिन्हें कि इन के ज्ञानी यात्रियों ने चलाया था। अस्तु। ज्ञान के इस दिव्य ताने को तू फिर भक्तों के कर्म द्वारा बुन, इस ताने में भक्ति रस से सिगोया हुवा अपने व्यापक कर्म का बाना डालता जा। और ध्यान रख तेरी बुनावट एकसार होवे, कभी ऊँची-नीची या गठीली न होवे। सावधान रह कि सदा उस ज्ञान के अनुसार ही तेरा ठीक-ठीक कर्म चले, और वह कर्म सदा प्रभु भक्ति से ही प्रेरित हो। इस सावधानी के लिये तुझे पूरा मननशील होना पड़ेगा, सतत विचार-तत्पर होना होगा। तभी यह दिव्य जीवन का सुन्दर पट तैयार हो सकेगा। अतः हे जुलाहे! तू अब दिव्य जीवन बुनने के लिए उठ और इस लुप्त होती जाती अमूल्य दिव्य कला की रक्षा कर।

शब्दार्थ—

(रजसः) अपने ज्योति के, ज्ञानप्रकाश के (तन्तुं) ताने को (तन्वन्) तनता हुआ तू (भानुं) द्युलोक तक (अनु इहि) अनुसरण करता जा, चला जा। इस तरह (धिया कृतान्) [कलाविदों या ज्ञानियों के] बुद्धिकौशल से बनाये गये (ज्योतिष्मतः

पथः) ज्ञानप्रकाशमय तरीकों की, प्रणालियों की, मार्गों की (रक्ष) तू रक्षा कर। इस ताने में (जोगुवां) भक्तों के (अपः) व्यापक कर्मों को (अनुल्वणं) एक सार (वयत) बुन, (मनुः भव) मननशील हो और एवं (दैव्यं जनं) दिव्य जन [के जीवन] को, इस 'दैव्यजन' रूपी वस्त्र को (जनय) पैदा कर, बना।

१६ भाद्रपद

विशं विशं मघवा पर्यशायत
जनानां धेना अवचाकशद् वृषा।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति
स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः॥

ऋ. १०.४३.६।

विनय

इन्द्र नारायण हरेक मनुष्य के हृदयकुटीर में आकर लेटे हुवे हैं। हम इसे जानते हों या न जानते हों। और सब में चुपके से लेटे हुवे ये नारायण प्रत्येक मनुष्य की ज्ञानक्रियाओं को भी साक्षात् देख रहे हैं, बल्कि उन ज्ञानक्रियाओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। ये नारायण हम में जागते तब हैं जब कि इन्हें अपने इस ज्ञान की, अपने श्रेष्ठ से श्रेष्ठ ज्ञान की, भेंट चढ़ायी जावे, जब यह सोमरस इन्हें पिलाया जावे। सर्व-

श्रेष्ठ भक्ति और सर्वश्रेष्ठ सोमसवन, तत्वज्ञान का निष्पादन ही है। भगवान् इसी के भूखे हैं। इसी के लिए प्रत्येक के अन्दर बैठे उस की ज्ञानक्रियाओं को निहार रहे हैं। हरेक ही मनुष्य कुछ न कुछ अपना सोमसवन कर रहा है, हरेक मनुष्य कभी न कभी विवेक करने, तत्वज्ञान के खोजने और ज्ञान का निष्कर्ष निकालने के लिये बाधित होता है; अतः वे सब के अन्दर बैठे धैर्य से प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह सच है कि जिस के अन्दर यथेच्छ सोमरस को पाकर वे भगवान् जाग उठते हैं वह निहाल हो जाता है। उस में ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि उस के सामने संसार की कोई भी शक्ति ठहर नहीं सकती। बस देर यही है कि वे किसी के सोमसवन को स्वीकार कर लेवें, किसी को अपना लेवें। जिसे वे अपना लेते हैं, वर लेते हैं, उस के सामने तो वे अपने सम्पूर्ण सर्वसमर्थ रूप में, अपने सम्पूर्ण 'शक्र' और 'वृषा' रूप में प्रकट हो जाते हैं। सचमुच ज्ञान ही सर्वोच्च-शक्ति है। ज्ञानी ही संसार के विकट से विकट आक्रमणों को सह सकता है। ज्ञान के बिना शैतान की फ़ौजों के सामने कोई नहीं ठहर सकता; 'प्रसंख्यान' के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के भी प्रभु-अर्पण कर देने पर भक्त योगी को अपनी धर्ममेघ समाधि में जो सोम की[1] वर्षा मिलती है, उन तीव्र सोमों (उच्च ज्ञानों) के सामने शैतान की सैंकड़ों आक्रमणकारी फौजें भी एक क्षण में परास्त हो जाती हैं; सब पाप और क्लेश समाप्त हो जाते हैं।

शब्दार्थ—

(मघवा) परमैश्वर्यवान् ईश्वर (विशं विशं) प्रत्येक

१ योगदर्शन पाद ४, सूत्र २९-३०।

मनुष्य में (परि अशायत) लेटे हुवे हैं, चुपके से व्यापे हुवे हैं और (वृषा) वे सुखवर्षक ईश्वर (जनानां) सब मनुष्यों की (धेनाः) ज्ञानक्रियाओं को (अवचाकशत्) देख रहे हैं या प्रकाशित कर रहे हैं। (अह) परन्तु (शक्रः) ये सर्वशक्तिमान् ईश्वर (यस्य) जिस के (सवनेषु) सवनों में, ज्ञाननिष्पादनों में (रण्यति) रम जाते हैं, इन्हें स्वीकार कर लेते हैं (सः) वह पुरुष (तीव्रैः सोमैः) अपने इन तीव्र सोमों द्वारा, महाबली उच्च ज्ञानों द्वारा (पृतन्यतः) सब आक्रमणकारियों को, बड़े से बड़े हमलों को (सहते) सहता है, जीत लेता है।

१७ भाद्रपद

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो
द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्निविशते यदेजति
विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥

ऋ. १०. ३७. २।

विनय

हे भगवन्! मैं सत्य ही भाषण करने का व्रत ग्रहण करता हूँ। यह महाव्रत मेरी रक्षा करे, सब ओर से रक्षा करे। दुनिया तो कहती है कि झूठ के बिना काम नहीं चल सकता, कि असत्य द्वारा ही बहुत वार रक्षा मिलती है। परन्तु मैं देखता

हूँ कि एकमात्र रक्षा कर सकने वाले, हे सत्यस्वरूप ! तुम ही हो, तुम्हारा सत्य ही है। सत्य वह महान् प्रकाशरूप वस्तु है जिस के प्रकाश से संसार के सब द्युलोक जगमगा रहे हैं और जिस के कि आंशिक प्रकाश को पाकर ये हमारे दिन अनन्तकाल से प्रकाशित होते आ रहे हैं और अनन्तकाल तक प्रकाशित होते रहेंगे। सत्य प्रकाश है और असत्य अंधकार है। सत्य सनातन है, असत्य क्षणभंगुर है। भला अंधकार हमारी कैसे रक्षा कर सकता है ? भंगुर वस्तु का आश्रय हमें कब तक बचा सकता है ? जो इसे समझते हैं वे सत्य के कारण आयी विपत्तियों को देख कर कभी घबराते नहीं और दीन हो कर कभी असत्य का आश्रय नहीं पकड़ते। क्योंकि वे देखते हैं कि सत्य के अतिरिक्त संसार में जो भी कुछ है वह सब विनश्वर है। वह असत्य चाहे कितना जीता जागता दीखता हो—चाहे कितने बड़े आकार वाला, चाहे कितना शक्तिशाली, चाहे कितना कीमती दीखता हो– पर वह सब थोड़ी देर में विलीन हो जाने वाला है, राख हो जाने वाला है, मिट जाने वाला है। सत्य ही अचल है। झूट-कपट की आलीशान दीखने वाली विजयें भी संसार में बेशक आती हैं पर वे क्षण में चली जाती हैं और हमें वहीं का वहीं गिरा कर छोड़ जाती हैं। देर तक ईश्वरीय सत्यनियमों को दबाया नहीं जा सकता है। घोर से घोर रात्रियाँ आवेंगी, पर फिर सूर्योदय होना निश्चित है। सदा प्रकाशमान सूर्य को केवल थोड़ी देर के लिये ही किसी आवरण द्वारा ओझल रखा जा सकता है। ज़रा देखो, जो अप्रतिहत रूप से बह रहा है वह तो ईश्वरीय व्यापक सत्यनियमों का प्रवाह ही है और जो प्रतिदिन उदय हो रहा है

और असल में सदा उदित रहता है वह [महान् सत्य का] सूर्य ही है।

शब्दार्थ—

(यत्र) जिस [सत्यप्रकाश] में (द्यावा च) द्युलोक भी (अहानि च) और सब दिन भी (ततनन्) विस्तृत हुवे हैं, विस्तार को प्राप्त हुवे-हुवे हैं (सा) वह (सत्योक्तिः) सत्यभाषण का व्रत (मा) मुझे, मेरी, (विश्वतः) सब तरफ से (परिपातु) रक्षा करे। (अन्यत्) सत्य के अतिरिक्त (विश्वं) और सब कुछ (यत् एजति) जो हिल रहा है, आकार बल व जीवन-युक्त दीखता है वह (निविशते) लीन हो जाता है, मिट जाता है (विश्वाहा) सदैव तो (आपः) व्यापक सत्यनियमों का प्रवाह [चल रहा है] और (विश्वाहा) सदा तो (सूर्यः उदेति) सूर्य उदय हुवा-हुवा है।

१८ भाद्रपद

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो
नासामामित्रो व्यथिरादधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च
ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥

ऋ. ६. २८. ३। अ. ४. २१. ३।

विनय

हे गौओं वालो ! हे गोपतिओ ! क्या तुम ऐसी गौओं को भी जानते हो जो न तो कभी भाग खड़ी होती हैं, न जिन्हें चोर उड़ा ले जा सकते हैं, और न जिन्हें हमारे शत्रु सता सकते हैं या आघात पहुँचा सकते हैं ? ये गौएं 'इन्द्र' की दी हुई हैं, इन से देवों का यजन होता है, और ये अपने गोपति के साथ सदा रहती हैं, कभी बिछुड़ती नहीं। ये गौएं हम में से हर एक को मिली हुई हैं। क्या अब भी समझे कि ये गौएं कौन सी हैं ?

ये हमारी इन्द्रिय-गौएं हैं। इन का गोपति हमारा मन व मनोमय आत्मा है। इस आत्मा के साथ ये सदा जुड़ी रहती हैं। ये तो शक्ति-रूप से मोक्ष-सुख की अवस्था में भी आत्मा के साथ रहती हैं, एक शरीर से दूसरे शरीर में तो आत्मा के साथ जाती ही हैं। इन के गोपति से इन्हें कोई छीन नहीं सकता है। ये इन्द्र परमेश्वर की दी हुई दिव्य अमर गौएं हैं। प्रभु ने ये गौएं अपने देवों के यजन के लिये ही प्रत्येक जीव को दी हैं, बल्कि इन देवों को दे देने के लिये, अर्पण कर देने—सौंप देने—के लिये दी हैं। इन गौओं को हमें शुभ कार्य में लगाने के लिये किये गये पवित्र निक्षेप की वस्तुओं की तरह रखना चाहिये। यदि हम इन चक्षु आदि गौओं से सदा यज्ञिय पवित्र कर्म ही करेंगे और इन चक्षु आदि को बाह्य आदित्य आदि देवों को समर्पित किये रखेंगे तो जहाँ ये हमारी स्थूल इन्द्रियाँ भी सर्वथा स्वस्थ, समुन्नत, अविकृत और शत वर्ष तक अविकल बनी रहेंगी वहाँ असली सूक्ष्म इन्द्रियाँ भी ऐश्वर्ययुक्त

बड़ी-बड़ी योग-विभूतियों को ला सकने वाली हो जायेंगी। क्या तुमने प्रभु से मिली हुई अपनी इन दिव्य गौओं की अमूल्य सम्पत्ति को पहचान लिया? तो तुम बाहर की लाखों गौओं के स्वामी बनने की जगह अब इन दस दिव्य गौओं के स्वामी—सच्चे अर्थों में स्वामी—बनना पसन्द करोगे।

शब्दार्थ—

(ताः) वे गौएं (न नशन्ति) न नष्ट होती हैं, न भाग जाती हैं, (न) न इन्हें (तस्करः) चोर (दभाति) सताता है, (न) और नहीं (आसां) इनको (आमित्रः व्यथिः) शत्रुकृत आघात (आदधर्षति) पीड़ित करता है। वह (याभिः) जिन इन गौओं से (देवान् यजति) देवों का यजन करता है (ददाति च) बल्कि देवों को अर्पण कर देता है (ताभिः) उन इन गौओं के (सह) साथ (गोपतिः) इनका गोस्वामी जीवात्मा (ज्योक् इत्) चिरकाल तक, सदैव ही (सचते) संयुक्त रहता है।

१६ भाद्रपद

प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरन्
श्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः।
अपानक्षासो बधिरा अहासत
ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः॥

ऋ. ६. ७३. ६।

विनय

देखो, स्वर्गीय ज्ञान की स्वरें सुनाई दे रही हैं, दिव्यप्रकाश की किरणें दृष्टिगोचर हो रही हैं। ये और कुछ नहीं हैं, सत्यनियम (ऋत) ही मिल कर ठीक धुन में ताल स्वर के साथ बज रहे हैं। सत्यनियम ही हमारे अनुकूल रूप धारण करके दीख रहे हैं। ये दिव्य शब्द व प्रकाश की किरणें ऊपर से आ रही हैं, द्युलोक से आ रही हैं। वहीं हम सब का पुराना सनातन उत्पत्तिस्थान है, निर्माणस्थान है। वहीं से इस अनादि ब्रह्माण्ड-वीणा के सब स्वर निकल रहे हैं, सदा से निकलते रहे हैं और सदा निकलते रहेंगे। ये जिस वीणायन्त्र से निकल रहे हैं वह प्रभु-वाणी की वीणा है, उसकी श्लोक, ईक्षणशक्ति रूपी वीणा है। इसी लिये उसकी ये रश्मियें इस सब वेगवान् महान् संसार को जानती हुई चल रही हैं, अपने प्रभु के सर्वगत चैतन्य के स्पर्श से कभी वियुक्त नहीं होती हैं। इन किरणों और इन स्वरों के अनुसार जो लोग अपने आपको चलाते हैं, इनकी ताल पर ताल देते हुवे इनके अनुसार अपने शरीर पर मन बुद्धि को हिलाते नचाते और ठीक करते जाते हैं वे तो बड़ी आसानी से ऊपर-ऊपर चढ़ते जाते हैं। पर दुःख है कि यह अन्धा और बहिरा संसार न उन्हें देख रहा है और न सुन रहा है। हम लोग बड़ी बेपरवाही के साथ सब कुछ अनसुना करते हुवे अन्धाधुन्ध अपनी हांकते जा रहे हैं, तभी दुःख पा रहे हैं और जहां के तहां पड़े हुवे हैं। उन्नति-पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते। सचमुच अपने इन दुःखदायी प्रतिकूल कर्मों को, दुष्कर्मों को हम इस लिये करते हैं—करने में प्रवृत्त होते

हैं--चूंकि हम इन स्वर्गीय लहरों को सुन व देख नहीं रहे हैं। अतः आओ भाइयो ! हम अब अपने उन कानों और आँखों को खोल लेवें जिन से कि प्रभुधाम से अनवरत आने वाली ये दिव्य स्वरें सुनायी और दिखायी देती हैं। ऐसे कान और आँख तो हम सब के पास हैं।

शब्दार्थ—

(श्लोकयन्त्रासः) श्लोक यन्त्र वाली, ईश्वरीयवाणी से निकलने वाली (रभसस्य मन्तवः) और इस वेगवान् महान् संसार को जानने वाली (ये) जो [दिव्यप्रकाश और दिव्य-शब्द की किरणें] (प्रत्नात् मानात् अधि) पुराने निर्माणस्थान, उत्पत्तिस्थान से (आ) आकर (सं अस्वरन्) मिल कर के बज रही हैं या प्रकाशित हो रही हैं उन्हें (अनक्षासः) न आँखों वाले तथा (बधिराः) बहिरे, न सुन सकने वाले [संसारी पापी] लोग (अप अहासत) छोड़ देते हैं, उन्हें देखते सुनते नहीं, इन का लाभ नहीं उठाते। इसीलिये (दुष्कृतः) दुष्कर्म करने वाले लोग (ऋतस्य पन्थां) सत्य के मार्ग को (न तरन्ति) तर नहीं सकते।

●

२० भाद्रपद

सहस्रधारे वितते पवित्र आ
वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।

रुद्रास एषा मिषिरासो अद्रुहः
स्पशः स्वंचः सुदृशो नृचक्षसः ॥

ऋ. ६. ६३. ६ ।

विनय

ऊपर द्युलोक से सहस्रों धाराओं में सोम की वर्षा हो रही है। जहाँ केवल शुद्ध धर्म की—अशुक्ल अकृष्ण धर्म की—वर्षा होती है उस धर्ममेघ समाधि की अवस्था आने पर ध्यानी लोग इसे अनुभव भी करते हैं। यह शिर के ऊर्ध्व भाग में अनुभूत होती है जहाँ कि हठयोगी लोग 'सहस्रार कमल' को देखते हैं। वहाँ अनन्त अपार ज्ञानसमुद्र है 'सर्वावरणमलापेत'[1] शुद्ध ज्ञान का समुद्र है। उस में क्रान्तिदर्शी और क्रान्तकर्मा ज्ञानी महापुरुष अपनी वाणी को पवित्र करते हैं, उस में गोता देकर सर्वथा शुद्ध हुई वाणी को बोलते हैं। तब उन की यह वाणी बड़ी चमत्कारिणी शक्ति रखती है। वहाँ से निकली वाणी द्वारा जो आज्ञा की जाती है वह अमोघ होती है। इसीलिये हम देखते हैं कि महात्मा दिव्य पुरुषों की वाणी व चिन्तना (माध्यमिक वाणी) विशेष प्रभाव रखती है। वे अपने भाषण व चिन्तन से अपने दूत का, अपने वशवर्ती नौकर का, काम ले सकते हैं। दूर-दूर के विषय में वे जो सोचते हैं या बोलते हैं वह वहाँ पूरा हो जाता है। पर यह तो दूर की बात है। क्या हम अपेक्षया उन्नत श्रेष्ठ पुरुषों को नित्य नहीं देखते कि उन का

---

१ योग दर्शन ४–३१ ।

भाषण व विचार दूर तक प्रभाव पहुंचाने वाला होता है, कभी किसी को भी हानि न पहुँचाने वाला होता है, उत्तम व्यवहार युक्त होता है, उत्तम दिव्य दूरदृष्टि से देख कर बोला हुआ होता है और मनुष्य को ठीक-ठीक देख कर पहिचान कर बोला हुआ होता है ? यदि किन्हीं के भाषण व विचार में ये उक्त गुण दिखलायी देते हैं तो यह इस बात का लक्षण है कि उन की वाणी पवित्र हो रही है, पवित्रताकारक सोमधारा का स्पर्श प्राप्त कर रही है, 'वितत सहस्रधार पवित्र' की तरफ़ बढ़ रही है।

शब्दार्थ—

(कवयः मनीषिणः) क्रान्तिदर्शी क्रान्तकर्मा ज्ञानी लोग (वाचं) अपनी वाणी को (सहस्रधारे वितते पवित्रे) हज़ारों धाराओं वाले विस्तृत पवित्रताकारक स्रोत [सोम-स्रोत] में (आपुनन्ति) पूरी तरह पवित्र करते हैं। अतः (एषां) इन मनीषियों के (रुद्रासः) प्राण, प्राणरूप माध्यमिक वाणियाँ (इषिरासः) दूर तक पहुँचाने वाले, बड़े प्रभावशाली (अद्रुहः) किन्तु कभी किसी का द्रोह व घात न करने वाले (स्वंचः) उत्तम व्यवहार करने वाले (सुदृशः) उत्तम दिव्य दृष्टि वाले और (नृचक्षसः) मनुष्यों को ठीक-ठीक पहिचान लेने वाले (स्पशः) दूत की तरह हो जाते हैं।

२१ भाद्रपद

समेत विश्वे वचसा पतिं दिवः
एको विभूरतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्
तं वर्त्तनिरनुवावृत एकमित् पुरु ॥

अ. ७. २१. १ ।

विनय

आओ, तुम सब आओ, हे मनुष्यो ! तुम सब इकट्ठे हो कर आओ और एक वाणी से उस 'दिवः पति' के स्तोत्र गाओ। वही हम सब को इकट्ठा कर सकता है। वही एक सूत्र की तरह हम सब को जोड़ने वाला है। क्योंकि वह एक विभु, वह एक सर्वव्यापक, हम सब मनुष्यों में सततरूप से गया हुआ है। हम सब जनों में अतिथि है। हम सभी का समान रूप से वह महमान हुआ-हुआ है। अतः हम सबों के उस एक पूज्य द्वारा, हम सबों के उस एक उपास्य द्वारा, हम सब मनष्य परस्पर जुड़ सकते हैं और असल में जुड़े हुये हैं भी। वह एक रस पुराण है और यह बदलता हुआ संसार नित्य नया होता रहता है। पर वह पुराण इस नित्य नये संसार का नित्य नये रूप से सेवन कर रहा है, इस में नित्य नये रूप से व्यापा हुआ है। इस लिये उसे प्राप्त करना चाहता हुआ यह संसार अपने-अपने नये ढङ्ग से ही उस की तरफ जा सकता है।

अतः यह सच है कि जो मार्ग हमें उस की तरफ ले जाता है वह बेशक हम सब को केवल उस एक की तरफ ले जाता है परन्तु वह हमें विविध प्रकार से—हरेक व्यक्ति के अनुसार उस के अपने-अपने निराले प्रकार से—ले जाता है। हम सब यद्यपि अपने-अपने ढंग से उस एक उपास्य देव की उपासना करेंगे, पर अपने-अपने ढंग से उपासना करते हुवे भी हम सभी का उपास्य देव वह एक ही है। अतः आओ उस अपने एक देव के नाम पर हम सब—हम सब के सब मनुष्य—एक हो जायें, मिल जायें, उस एक प्रभु के झण्डे के नीचे इकट्ठे हो जायें, और हम सब के सब एक वाणी से उस के यशोगीत गायें।

शब्दार्थ –

(विश्वे) हे सब लोगो, सब भाइयो ! (दिवः पतिं) प्रकाशपति परमेश्वर के प्रति (वचसा) एक वाणी से (समेत) एकत्रित हो जाओ; चूंकि (एकः विभूः) वह एक ही सर्वव्यापक (जनानां) सब जनों का (अतिथिः) अतिथि हुआ-हुआ है। (सः पूर्व्यः) वह पुराना (नूतनं) इस नये [संसार] को (आविवासत्) सेवन कर रहा है, व्याप्त कर रहा है। अतः (तं) उस के प्रति (वर्त्तनिः) जो मार्ग (अनुवावृते) जाता है वह (एकं इत्) उस एक के प्रति ही, किन्तु (पुरु) बहुत प्रकार से, नाना प्रकार से जाता है।

२२ भाद्रपद

सं जानामहै मनसा संचिकित्वा
मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते
मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥

अ. ७. ५२. २ ।

विनय

हमें अपना सब सामूहिक सोचना समझना मिल कर ही करना चाहिये । हम एक हो कर एक मत से ही किसी कार्य को प्रारम्भ करें । हम जो बहुत बार एक मत नहीं हो पाते हैं उस का कारण यह होता है कि हम 'दैव्य-मन' में सोचना छोड़ कर असुर मन से विचारने लगते हैं । आसुरी वृत्ति से, स्वार्थप्रेरित हो कर, एक दूसरे पर अविश्वास करते हुवे, एक दूसरे को तिरस्कृत करते हुवे हम चलेंगे तो हम कभी भी ऐकमत्य नहीं पा सकेंगे । अतः हमें निःस्वार्थ प्रेम से युक्त दैव्य मन को कभी न त्यागना चाहिये और एक मत हो एक निश्चय के साथ सर्वहितकारी बड़े से बड़े काम को उठा लेना चाहिये तथा उसे एक भाव से ही प्रेरित हो चलाते जाना चाहिये । फिर बड़ी से बड़ी भयङ्कर विपत्तियाँ आने पर भी विह्वल नहीं होना चाहिये । असफलतायें और विघ्नों की रात्रियाँ तो प्रत्येक महान् कार्य में आया ही करती हैं । इन क्षुद्र असफलताओं पर हाहाकार

मचाना तो क्या, यदि महादारुण प्रलय की रात्रि भी आ जावे और ये विशाल द्यौ और पृथिवी भी नष्ट होने लगें तो भी हमें विचलित नहीं होना चाहिये और अटल निष्ठा से अपनी साधना में लगे रहना चाहिये। और फिर इस रात्रि के बाद दिन आ जाने पर भी, सब अनुकूल अवस्थायें हो जाने पर भी, हमें मौज लूटने में नहीं ग्रस्त हो जाना चाहिये। अपने अन्तिम लक्ष्य को भूल विषय-भोगों, विजयोत्सवों में नहीं पड़ जाना चाहिये। क्योंकि ऐसे ही समय में 'इन्द्र का इषु' गिरा करता है, वज्रपात हुआ करता है, ईश्वरीय मार पड़ा करती है। यह दैवी मार बहुत बुरी होती है। वे बड़े-बड़े साम्राज्य जो कि अपने बड़े दुर्दान्त शत्रुओं के घोर आक्रमणों को भी सह गये, पीछे से विषय-भोगों में ग्रस्त हो कर स्वयमेव नष्ट हो गये, 'इन्द्र के इषु' से मारे गये। अतः आओ, अपने अन्धकार के समय में भी और प्रकाश काल में भी, हम कभी दैव मन को न छोड़ते हुवे सदा मिल कर खूब सोच समझ कर एकमत से अपने सर्वोदय के महान् कार्य्यों को चलाते जावें।

शब्दार्थ—

हम (मनसा) मन द्वारा (सं) मिल कर के (जानामहै) विचारें और (चिकित्वा) सोचना समझना (सं) मिल कर करें; (दैव्येन मनसा) दैव मन से (मा युष्महि) कभी वियुक्त न होवें, बिछुड़ें नहीं। (बहुले विनिर्हते) अन्धकार आ जाने पर या विशाल द्यावा पृथिवी के टूटने पर भी (घोषाः मा उत्स्थुः) हमारे अन्दर हाहाकार के शब्द न उठें, और (अहनि आगते) दिन आ जाने पर, अनुकूल स्थिति पा जाने पर

(इन्द्रस्य इषुः) इन्द्र का इषु, ईश्वरीय मार (मा पप्तत्) हम पर न पड़े ।

•

२३ भाद्रपद

तं पृच्छता स जगामा स वेद
स चिकित्वाँ ईयते सा न्वीयते ।
तस्मिन्त्सन्ति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः
स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः ॥

ऋ. १. १४५. १ ।

विनय

हे मनुष्यो ! तुम जो कुछ जानना चाहते हो पूछना चाहते हो वह अपने अग्निदेव से पूछो। इस के सिवाय संसार में और कोई तुम्हारे सब प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे सकने वाला नहीं है। संसार के बड़े से बड़े विद्वान् तुम्हें जो कुछ उत्तर देंगे उस से भी तुम्हें तभी सन्तुष्टि मिलेगी जब कि तुम्हारा (अन्दर का) अग्नि, अन्तरात्मा उस पर अपनी स्वीकृति की छाप लगा देगा। अतः तुम्हारी सब जिज्ञासायें, सब समस्यायें, अन्त में इस अन्तरात्मा-देव की शरण में जाने से ही हल होंगी। क्या तुम सन्देह करते हो कि इस अन्दर की आत्मा की सब जगहों में और सब विषयों में गति नहीं है ? नहीं, यह आत्मा तो सदा अपने परम आत्मा में बसता है और अपनी चिन्मय

वृत्ति को जहाँ चाहे वहाँ भेज सकता है। एवं यह अग्नि सब जगह जाती है और वहाँ सब कुछ जानती है। अरे देखो, यह चित्स्वरूप आत्मा सब कुछ जानता हुआ सब कहीं जा रहा है, पलक मारने में, संकल्पमात्र से करोड़ों मीलों तक-करोड़ों युगों तक पहुंच रहा है। यों कहना चाहिये कि यह ज्ञानमय अग्नि सब जगह, सब विषयों में पहिले ही पहुंचा हुआ है। और संसार के महापुरुषों को जो जगत् में कुछ महान् कार्य करने की आज्ञायें-प्रेरणायें मिला करती हैं वे भी उन की इस अन्तराग्नि से ही प्रकट होती हैं। सब प्रशासन, सब ईश्वरीय हुक्म इसी में हैं। एवं ऋषि-महात्माओं को समय-समय पर जो तत्कालीन विपत्ति के हटाने के लिये किन्हीं यज्ञों का, इष्टियों का, दर्शन हुआ करता है वह भी उन की अन्तरात्मा में ही होता है। सचमुच सब यज्ञ भी इसी में निहित हैं। एवं समस्त ज्ञान और बल का यही पति है। बल ही क्यों, सब बलियों का—संसार के बड़ी से बड़ी फ़ौज रखने वाले राजा आदि सब बलियों का—यही पति है। अहो, अपने इस अग्निदेव के इस परम माहात्म्य को अनुभव करो और अब से अपने सब प्रश्न इसी ज्ञानमय देव के सामने रक्खो। और कहीं क्यों भटकते हो ?

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (तं) उस अग्निदेव से (पृच्छत) पूछो। क्योंकि (सः) वह (जगाम) सर्वत्र जाता है, (सः वेद) वह सब कुछ जानता है, (सः) वह (चिकित्वान् ईयते) सब जानता हुआ जाता है, (सः) वह (नु) बड़ी जल्दी (ईयते) जाता है। (तस्मिन्) उस में (प्रशिषः) सब प्रशासन, आज्ञायें

(सन्ति) हैं, (तस्मिन्) उस में (इष्टयः) सब यज्ञ व इष्टियां हैं, (सः) वह (वाजस्य) ज्ञान का (शवसः) बल का (शुष्मिणः) और बली का (पतिः) पति है ।

२४ भाद्रपद

तमित्पृच्छन्ति न सिमो वि पृच्छति
स्वेनेव धीरो मनसा यदग्रभीत् ।
न मृष्यते प्रथमं नापरं वचो
अस्य क्रत्वा सचते अप्रदृपितः ॥

ऋ. १. १४५. २ ।

विनय

और सब मनुष्य अपने अन्तरात्मा से ही पूछा करते हैं। यह और बात है कि हर कोई उस से पूरी तरह पूछ न सकता हो, किन्तु यह ठीक है कि सब कोई अपने मन (अन्तरात्मा) से ही सोचता है और अपनी मनमानी ही करता है। अन्तरात्मा से विशेष तौर पर (पूरी तरह) पूछ सकने वाले तो विरले ही होते हैं, सब नहीं। बात यह है कि सब कोई अपनी शक्ति के अनुसार पूछ सकता है। जिस का बुद्धि, मन जितना शुद्ध और विकसित होगा अतएव जितना ग्रहण कर सकता होगा उतना ही ज्ञान वह अपनी अन्तरात्मा की अग्नि से प्राप्त कर सकेगा। एक बुद्धिमान् पुरुष पूरे धैर्यपूर्वक पूछने का प्रयत्न करता हुआ

भी अपने निजी मन से जितना ग्रहण कर सकेगा उतना ही अपने प्रश्नों का उत्तर अन्तरात्मा द्वारा प्राप्त करेगा।

पर एक बात सदा याद रखनी चाहिये। वह यह है कि हमें इस अग्निदेव के समीप सर्वथा निरभिमान होकर ही पहुँच करनी चाहिये। जो मनुष्य अपने बड़े भारी ज्ञानी पण्डित होने के सब दर्प को और सब पाण्डित्य को भुलाकर अपने आपको खाली करके अबोध बालक होकर पूछता है वही उस अग्नि के प्रज्ञा और कर्म से अपने को संयुक्त करता है, उससे ठीक ज्ञान और प्रेरणाओं को प्राप्त करता है। जब अग्निदेव बोलता है तो उस अपने बोलने से पहिले और पीछे से किसी दूसरे के बोलने को नहीं सह सकता है। उसका उत्तर सुनने के लिये हमें जहां अपने पहिले बोल को सर्वथा बन्द कर देना चाहिये, अर्थात् अपने सब पूर्वग्रह, प्रथम निश्चय तथा पक्षपात को बिल्कुल छोड़ कर ही उसे सुनना चाहिये, वहाँ उस का उत्तर सुन लेने के बाद भी उसमें अपना बोल मिला देने से सावधान रहना चाहिये अर्थात् उस उत्तर के किसी अंश को अपनी कल्पना द्वारा पूरा करने का यत्न न करना चाहिये और न अपने विचारों का रङ्ग उस उत्तर में आने देना चाहिये। बस यही अपने आत्मदेव से बिलकुल ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त करने का रहस्य है।

शब्दार्थ—

(तं इत्) उस अन्तरात्मा से ही (पृच्छन्ति) सब पूछते हैं, पर (सिमः) सब कोई (विपृच्छति न) विशेष तौर पर [पूरी तरह] नहीं पूछता है। (धीरः) बुद्धिमान व धैर्यवान पुरुष भी [उतना ही पूछ सकता है] (यत्) जितना कि वह

(स्वेन इव) अपने ही (मनसा) मन से (अग्रभीत्) ग्रहण कर सकता है। वह अग्नि (प्रथमं वचः) अपने बोलने से न तो पहिले के किसी बोल को (न अपरं) और न ही बाद के किसी बोल को (मृष्यते) सहता है, (अप्रदृपितः) निरभिमान होकर आया पुरुष ही (अस्य) इस अग्नि के (क्रत्वा) कर्म व प्रज्ञा से (सचते) अपने आपको संयुक्त करता है

२५ भाद्रपद

प्र वो महे मन्दमानाय अन्धसो
अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि
श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः॥

ऋ. १०. ५०. १। य. ३३. २३.।

विनय

क्या तुम अपने विश्वानर देव को भी जानते हो? यह वह देव है जिसमें हम विश्व नर, हम सब मनुष्य, समाये हुये हैं; यह वह नर है, वह पुरुष है जिसका कि यह विश्व (यह ब्रह्माण्ड) शरीर है। अतः हे नरो, हे मनुष्यो! तुम इस अपने महान् विश्वानर देव का पूजन करो। यह सब विश्व में समाया हुआ विश्वव्यापी देव सदा मोदमान है, आनन्दमय

है। हमें अपना सब आनन्द, सब अन्न आदि भोग इसी से मिल रहा है। 'अन्धस्' वाला यही है। और यह वह इन्द्र (परमेश्वर) है जिसका कि सुपूजित बल, सर्ववंदित तेज, अत्यन्त महान् है। इसी के महान् 'सहस्' के कारण सब लोक, सब भुवन, सब ब्रह्माण्ड ठीक-ठीक चल रहा है। और इसी के मनुष्योपयोगी आंशिक यश और बल को सब संसार के मनुष्य सेवन कर रहे हैं। आः. क्या तुम देखते नहीं कि रोदसी, यह विशाल द्यौ और यह पृथिवी, उसी देव की परिचर्या कर रहे हैं, अहर्निश उसी देव का पूजन कर रहे हैं। तो आओ, हम भी उस अपने महान् विश्वानर देव के गीत गावें अपने संपूर्ण जीवन द्वारा उसकी वन्दना करें।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो! (वः) तुम उस (महे) महान् (मन्दमानाय) सदा मोदमान, आनन्दमय (अन्धसः) सुख भोग के [देनेवाले] (विश्वाभुवे) विश्व में समाये हुए, विश्वव्यापी (विश्वानराय) विश्वानर देव का (प्र अर्चा) पूजन करो, (यस्य इन्द्रस्य) जिस ईश्वर का (सुमखं) सुपूजित (सहः) बल व तेज (महि) महान् है, और जिसके (श्रवः) यश (नृम्णं च) तथा बल को (रादसो) यह द्यौ और पृथिवी, दोनों संसार (सपर्यतः) पूजन कर रहे हैं, वन्दन कर रहे हैं।

२६ भाद्रपद

वाजस्य नु प्रसवे मातरं मही-
मदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश
तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ॥

य. १८. ३०।

विनय

भूमि-माता कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। यह 'राज्यवान् आत्मा' है, राष्ट्र है। यह माता राष्ट्र के, भूमि के, सब व्यक्तियों की सामूहिक आत्मा है। इस का देह राष्ट्रशरीर है। ज़रा अनन्तों व्यक्तिभेदों को भूल कर हम अपनी दृष्टि को विशाल बना कर देखें, सम्पूर्ण भूमि को एक अखण्डित (अदिति) समष्टि रूप में देखें तो हमें यह 'अदिति' नामक अपनी माता दीख जायगी। तब हमें दीखेगा कि भूमि भर की सब मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि व्यक्तियाँ, भूमि भर की सब सम्पत्तियाँ, सब वस्तुयें इसी अदिति में समायी हुई हैं। इस से बाहर कुछ नहीं है। इसलिये हम व्यक्तियों के सब वैयक्तिक सुख भी, सब 'वाज' सब अन्न-जल-बल-ज्ञान आदि वस्तुयें भी, हमें उस समष्टिरूपिणी एकात्मा अदिति माता की उपासना के बिना नहीं मिल सकती हैं। अतः आओ, हम उस महती अदिति माता को अपने अभिमुख करें, उसे एक वाणी से अपनी माता कर के पुकारें. परस्पर चर्चा और प्रचार

से उस की भावना अपने में जगावें । तभी हम अपने वैयक्तिक बल, ज्ञान आदि की उन्नति पा सकेंगे । सर्वप्रेरक प्रभु भी उसी समष्टि रूप अदिति में हमारी धारणा को उत्पन्न करें और उस के प्रति जो हमारा धर्म है उस की हम में प्रेरणा करते रहें, उस समष्टि में एक हो कर जो हमारा कर्त्तव्य है, जो हमारा धर्म है उसे सदैव सुझाते रहें। यदि प्रभु हम में इस धर्म की प्रेरणा न करेंगे या हम किसी अन्य कारण इस महान् अदिति माता की उपासना कर सकेंगे तो हम अपने अन्न-बल-ज्ञान-सम्पत्ति को भी कभी प्राप्त न कर सकेंगे । इस लिये हे सवितः ! तुम हमें उस अपनी मही माता के प्रति हमारे धर्म की सदा प्रेरणा करते रहो।

शब्दार्थ—

(अदिति नाम) अदिति नाम वाली (महीं मातरं) महान् भूमि माता को (वाजस्य प्रसवे नु) अन्न, बल, ज्ञान आदि की उत्पत्ति के लिये ही हम (वचसा) वाणी द्वारा (करामहे) अभिमुख करते हैं, माता बनाते हैं । (यस्यां) जिस अदिति में (इदं विश्वं भुवनं) यह सब की सब व्यक्तियें और वस्तुयें (आविवेश) समायी हुई हैं, (तस्यां) उसी में, उसी के प्रति (सविता देवः) प्रेरक प्रभु (नः धर्म) हमारे धर्म, कर्त्तव्य की (साविषत्) सदा प्रेरणा करें ।

२७ भाद्रपद

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ
याभ्यां रक्षांसि-अपहंस्यग्ने ।
ताभ्यां पतेम सुकृतामुलोकं
यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥

य. १८. ५२ ।

विनय

हे अग्ने ! हे आत्मन् ! तू अपने दोनों पक्षों द्वारा सब बाधाओं को हटाता हुवा निरन्तर गति करता जाता है । तुझ में 'शवस्' और 'घृत' की, बल और दीप्ति की, कर्म और ज्ञान की, कार्य और कारण की, स्थूल और सूक्ष्म की व पृथिवी और दिव् की जो दो विभिन्न शक्तियाँ निहित हैं, वे ही तेरे दो अजर पक्ष हैं, कभी जीर्ण न होने वाले तेरे दो पंख हैं, जो कि पतत्र वाले हैं, तुझे ऊपर उड़ाने वाले हैं, उठाने वाले हैं । इन से तू उड़ता है, सब बाधाओं को दूर करता हुवा उड़ता है, उन्नत होता है। उन्नति को रोके रखने वाले ही 'राक्षस' होते हैं । इन सब राक्षसों को, रुकावटों को, विघ्नों और बन्धनों को तू अपने इन दोनों पक्षों की समतोल क्रिया द्वारा और सम्मिलित यत्न द्वारा काटता हुआ चलता जाता है। हे अग्ने ! हम भी तेरे इन दिव्य पंखों का सहारा लेकर उड़ना चाहते हैं। हम अब अपने जीवन में कर्म और ज्ञान की ऐसी समतोलता रखते हुवे बढ़ें कि इस से

हमारे आगे चलने में कभी कोई रुकावट न पड़े। जब कभी हम किसी एक पार्श्व में कमी या अति करते हैं अर्थात् ज्ञान में ग्रस्त हो कर्म छोड़ देते हैं या ज्ञान को भूल कर्म में बह जाते हैं अथवा जब कभी हम इन दोनों को परस्पर सम्बद्ध नहीं रखते अर्थात् ज्ञान के अनुसार कर्म नहीं करते या कर्म से अगला ज्ञान नहीं प्राप्त करते तभी रुकावट होती है, तभी राक्षसों की जीत हो जाती है। अतः हे अग्ने! यदि हम तुम्हारे इन दिव्य अजर पतत्री पंखों को पा सकेंगे तभी हम बिना रुकावट उन्नत हो सकेंगे और उस लोक को पहुँच सकेंगे जहाँ कि उत्तम कर्म और उत्तम ज्ञान अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुवे-हुवे हैं; उस 'सुकृतां लोक' को, श्रेष्ठ कर्म वाले पुरुषों के लोक को, पहुंच सकेंगे जहां कि पुराने प्रख्यात महाज्ञानी पहुंचते रहे हैं।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! (ते) तेरे (इमौ) ये (अजरौ) अजर (पतत्रिणौ) ऊपर उड़ाने वाले (पक्षौ) दो पक्ष, दो पंख हैं (याभ्यां) जिन से कि तू (रक्षांसि) राक्षसों को (अपहंसि) हटा देता है, मार भगाता है, (ताभ्यां) उन्हीं पंखों से (उ) ही (सुकृतां लोकं) उस श्रेष्ठ कर्मों वालों के लोक को (यत्र) जहाँ (प्रथमजाः) हम से पहिले पैदा हुवे-हुवे (पुराणाः) पुराने (ऋषयः) ज्ञानी लोग (जग्मुः) पहुंचते रहे हैं (पतेम) हम भी उड़ें, उन्नत होते हुवे पहुंचें।

२८ भाद्रपद

यदाकूतात् समसुस्रोद् हृदो वा
मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा।
तदनुप्रेत सुकृतामु लोकं
यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥

य. १८. ५८ ।

विनय

उस लोक को उड़ने का, उस लोक में पहुँचने का मार्ग बड़ा सहज हो जाता है, यदि किसी तरह हमारी वैयक्तिक प्रकृति उस तरफ़ झुक जाय, उस तरफ़ प्रवृत्त हो जाय, उधर चलने लगे; हठयोग की भाषा में, यदि किसी तरह हमारी कुंडलिनी शक्ति का जागरण हो जाय। क्योंकि उस अवस्था में हम बरसती हुई ईश्वरीय-शक्ति के धारण करने के योग्य हो जाते हैं। और तब तो हमें ईश्वरीय-शक्ति का एक बिन्दु मिल जाना पर्याप्त होता है, उस एक शक्ति-बिन्दु को ही लेकर हमारी वैयक्तिक प्रकृति [शक्ति] चल पड़ती है और हमें बड़ी आसानी से हमारे ध्येय तक पहुँचा देती है। प्रभु की दया होने पर यह शक्ति-बिन्दु 'आकूत' से, आत्मिक ईक्षण व आत्मिक संकल्प से, चूता है, गिरता है। इस शक्ति-बिन्दु को निपात अपनी आत्मा के आकूत से—बहुधा दूसरी किसी बलवान् महान् आत्मा [गुरु] के आकूत से—हुआ करता है।

यह शक्ति-निपात आकूत से आकर गुरु के हृदय से या मन से या आंख से प्रकट होता है। गुरु इस शक्ति को या तो अपने हृदय से शिष्य के हृदय में डालते हैं, या अपने मन से शिष्य के मन में या कभी अपनी आँख से ही शिष्य की आँख में इसका संचार कर देते हैं। ऋषियों ने बताया है, आत्मा का निवास सुषुप्ति में हृदय में होता है, स्वप्न में मन में, और जागृत में दक्षिणाक्षि में होता है। जो हो, परमगुरु परमेश्वर की कृपा होने पर 'आकूत' द्वारा नाना प्रकार से शक्ति का विनिपात हुआ करता है और अधिकारी आत्मा (शिष्य) इसे अपने में अच्छी तरह धारण, संभृत, कर लेता है। धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें कि भगवान् का ऐसा आशीर्वाद प्राप्त होता है। भाइयो ! यदि तुम्हें कभी कोई शक्ति-निपात प्राप्त हुआ है और तुमने उसे संभृत कर लिया है तो तुम उसे ही लेकर चल पड़ो, निःशंक होकर चल पड़ो। तब तुम्हें साफ़ सीधा चौड़ा मार्ग मिल गया है। निश्चय से तुम अपने अभीष्ट लोक को पहुँच जाओगे, उस सुकृतों के लोक को, श्रेष्ठ कर्म वालों के लोक को पहुँच जाओगे जहां कि तुम से पहले पैदा हुवे पुराने सब ज्ञानी ऋषि लोग पहुंचते रहे हैं।

शब्दार्थ—

(यत्) जो शक्ति-बिन्दु (आकूतात्) आत्मिक ईक्षण से, आत्मिक संकल्प से (सं असुस्रोत्) अच्छी तरह चुआ है, विनिपतित हुआ है, और (हृदः वा) या तो हृदय से, बुद्धि से (मनसः वा) या मन से (चक्षुषः वा) या आंख [आदि

इन्द्रिय] से चुए हुवे इसे (सं भृतं) तुम ने सम्यक्ततया धारण कर लिया है तो तुम (तत् उ) इसे ही ले कर (अनुप्रेत) चल पड़ो, पीछे हो लो, इस तरह तुम (सुकृतां लोकं) उस श्रेष्ठ कर्मों वालों के लोक को पहुंच जाओगे (यत्र) जहाँ, जिस लोक को (प्रथमजाः) तुम से पहिले उत्पन्न हुवे (पुराणाः) पुराने (ऋषयः) ऋषि लोग (जग्मुः) पहुँचते रहे हैं।

२९ भाद्रपद

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं
कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः
सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥
अ. १७. १. २७।

विनय

हे प्रभो ! मेरी महत्त्वाकांक्षा यह है कि मैं पुण्य कर्म करता हुआ हज़ार वर्ष तक जीवन धारण करूँ। ऐसे दिव्य जीवन बिताने वाले सिद्ध पुरुष संसार में हुआ करते हैं। मैं वैसा ही विभूतिसम्पन्न होना चाहता हूँ। मेरी अमर आत्मा अपने अमरत्व को लगभग स्थूल शरीर तक पहुंचा देगी। सर्व-साधारण लोगों के तो आत्मा-मन का शरीर पर असर नहीं होता है किन्तु उन के शरीर का मन-आत्मा पर असर होता

है। इसलिये वे स्थूल भौतिक संसार के वृद्धि-क्षय आदि नियमों के वशीभूत होते हैं और उन्हें इतनी जल्दी-जल्दी चोले बदलने पड़ते हैं। परन्तु मैं अपने आप को ऐसे दिव्य कवचों से सुरक्षित करूँगा कि मेरे आत्मा का ही प्रभाव बे-रोक-टोक स्थूल शरीर और स्थूल जगत् तक पड़ेगा। मैं अपने आत्मा को, कारण शरीर को, 'प्रजापति के ब्रह्म' से—ईश्वर की प्राज्ञावस्था के कवच से—ढक लूंगा और अपने बुद्धि, मन आदि सूक्ष्म शरीर को 'कश्यप' की—कश्यप हिरण्य-गर्भ की—ज्योति से ढक लूंगा तथा अपने प्राण शरीर को उस के वर्चस् से, प्राणमय तेज से ढक लूंगा। एवं मुझ में पूरा आत्मिक वीर्य तथा मानसिक व शारीरिक वीर्य भी संचित-रक्षित रहेगा। अतः मैं इतनी लम्बी जीर्णता की अवस्था तक भी सर्वथा समर्थ रहूँगा। मुझ में सर्वत्र गमन कर सकने की सिद्धियाँ प्राप्त होंगी और मैं हजार वर्ष तक जीता हुआ सर्व-कल्याण के सुकृत कर्म करता रहूँगा। हे जगदीश्वर! मेरी इस महत्वाकांक्षा को पूर्ण करो।

शब्दार्थ—

(प्रजापतेः) प्रजापालक 'ईश्वर' के (ब्रह्मणा) महान ज्ञान रूपी 'प्राज्ञता रूपी' (वर्मणा) कवच से (आवृतः) ढका हुआ और (कश्यपस्य) 'महासूर्य हिरण्यगर्भ' के (ज्योतिषा) प्रकाश से (वर्चसा) तथा तेज से ढका हुआ मैं (जरदष्टिः) बड़ी वृद्धावस्था में भी सब कर्मसामर्थ्य रखने वाला, (कृतवीर्यः) सब प्रकार के वीर्य को संचित किये हुये, (विहायाः) विविध गमन की सिद्धि रखने वाला, (सहस्रायुः) हज़ार वर्ष की उमर

वाला हो कर (सुकृतः) सुकृत कर्म करता हुआ (चरेयम्) विचरता रहूँ।

३० भाद्रपद

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः॥

य. ४०. ८।

विनय

वह परमेश्वर तो सर्वत्र फैला हुआ है, व्यापा हुआ है। वह अपने दीप्यमान शुक्र रूप में, सब प्रकार के शरीरों से रहित हो कर, अतएव शारीरिक व्रणादि दोषों तथा स्नायु आदि बन्धनों से रहित हो कर, सर्वथा शुद्ध, सूक्ष्ममल-रूप पापों से भी सर्वथा रहित, त्रिकाल में रहित, सदा सर्वदा मुक्त-रूप हो कर सर्वत्र फैला हुआ है, सर्वत्र रमा हुआ है। एवं सर्वव्यापक, सर्वगत हो कर वह परमेश्वर इस सब जगत् को चला रहा है, इस की ठीक-ठीक परिपूर्ण व्यवस्था कर रहा है। शाश्वत काल से अपनी सनातन प्रजा के लिये, प्राणिमात्र के लिये, सब अर्थों को रच रहा है; ज्ञान, ऐश्वर्य, कर्म-भोग आदि सब पदार्थों को

यथावत् परिपूर्ण न्याय से सब को दे रहा है और शाश्वत काल तक देता रहेगा। क्योंकि वह क्रान्तदर्शी, कवि, सर्वज्ञ है, सब के मनों को जानने और प्रेरणे वाला मनीषी है, सब वस्तुओं का परिभव करने वाला सर्वत्र सब से ऊँचा परिभू है, और स्वयमेव विद्यमान, स्वाधार, आत्माश्रय, अजन्मा, स्वयंभू है। यही हमारे परम ईश्वर का स्वरूप है। हे मनुष्यो ! इस स्वरूप को अपने हृदय में बसा लो, अपने अन्तःकरण में रमा लो।

शब्दार्थ—

(सः) वह परमेश्वर (शुक्रं) दीप्यमान रूप से (अकायं) शरीर रहित हो कर, (अव्रणं अस्नाविरं) व्रण रहित और स्नायु रहित हो कर, (शुद्धं) सर्वथा शुद्ध और (अपापविद्धम्) पाप से भी सर्वथा अछूता हो कर (परि अगात्) सर्वत्र फैला हुआ है, सब तरफ व्यापा हुआ है। वह (कविः) क्रान्तदर्शी, (मनीषी) सब के मनों का स्वामी, (परिभूः) सब का परिभव करने वाला, सब से ऊंचा और (स्वयंभूः) स्वयं विद्यमान अजन्मा परमेश्वर (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) अपनी सनातन प्रजाओं के लिये [शाश्वत काल से] (अर्थान्) सब अर्थों को [वेदज्ञान, ऐश्वर्य, कर्मफल आदि सब पदार्थों को] (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक, यथावत्, पूर्ण न्याय से (व्यदधात्) विधान करता है, रचता है, देता है।

३१ भाद्रपद

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो
हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ।
इयं वो अस्मत् प्रतिहर्यते मतिः
तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥

ऋ. ४. ३. २१ ।

विनय

हे प्राणो ! तुम इन्द्रवन्त हो । आत्मशक्ति या आत्मैश्वर्य तुम्हारे साथ रहता है । शरीर में जितने प्राण भरे रहेंगे उतनी ही इस में आत्मशक्ति जागृत होगी और चूंकि तुम मिल कर के शरीर का सेवन करने वाले, प्राण, अपान आदि रूप से शरीर के अंगों में विभक्त हो कर सारे शरीर को अपने सम्मिलित यत्न से धारने वाले हो, अतः तुम्हारी वृद्धि से हमारी सर्वाङ्गीण उन्नति होती है । और हम यह भी जानते हैं कि तुम्हारा रंहण (संचार) हित और रमणीय दोनों है। यद्यपि संसार में प्रायः हितकर वस्तुएं आनन्ददायक नहीं होतीं, किन्तु तुम्हारे पूरण से जहाँ बड़ा भारी हित होता है वहाँ तुम्हारे संचार से शरीर में बड़ा ही आनन्द भी अनुभूत होता है । शरीर में प्राणों के बढ़ जाने से जो एक शक्ति का, यौवन का, उत्साह का, एक हितकारी नशे का सा आनन्द अनुभूत होता है उसे प्राण-साधना करने वाले ही जानते हैं । इसीलिये हे प्राणो ! मेरा यह शरीर

तुम्हें चाह रहा है। जब से मुझे तुम्हारे इस माहात्म्य का कुछ पता लगा है, और कुछ अनुभव मिला है तब से मेरा ध्यान और सब बातों की तरफ से हट कर केवल इस में लगा हुआ है कि मेरे शरीर में प्राणों का आगमन, प्राणों का पूरण कब होगा। तब से मेरी मति, मेरी कामना तुम्हारी तरफ ही दौड़ रही है। मैं देखता हूँ कि शरीर में तुम्हारे आगमन बिना मेरा 'सुवित', मेरी उत्तम गति नहीं हो सकती है। मैं देखता हूँ कि तुम्हारी कमी के कारण—प्राण साधना द्वारा शरीर में तुम्हारा पूरण न हो जाने के कारण—मेरी बड़ी हानि हो रही है। इसीलिये हे प्राणदेवो ! मैं तुम्हारे पाने का प्यासा हो गया हूँ। जैसे कि चातक आकाश की दिव्यधाराओं का प्यासा होता है या जैसे कि गर्मी के दिनों में पिपासाकुल मनुष्य 'पानी[1] पानी' चिल्लाता है, उसी तरह मुझे भी अब तुम्हारे आपूरण बिना चैन नहीं मिल सकता। इसीलिये, हे प्राणरूपी दिव्य जलो ! तुम मेरे उत्तम कल्याण के लिये आओ और मेरी पिपासा बुझा जाओ। यह शरद् ऋतु तुम्हारे आगमन के लिये बहुत अनुकूल है; अतः इस समय तो आओ, अवश्य आओ।

शब्दार्थ—

(रुद्रासः) हे प्राणो ! (इन्द्रवन्तः) आत्मैश्वर्य वाले, (सजोषसः) साथ मिल कर सेवन करने वाले, (हिरण्यरथाः)

---

१ 'आपोमयः प्राणः' अर्थात् प्राण जलमय है।

छान्दोग्य उपनिषद् ६. ५. ४।

हितरमणीय रंहण वाले तुम (सुविताय) हमारी उत्तम गति के लिये (आ गन्तन) आओ, हम में आओ। (इयं) यह (अस्मत्) मेरी (मतिः) मति, इच्छा (वः) तुम को (प्रति-हर्यते) चाह रही है, कामना कर रही है, अतः (तृष्णजे न उदन्यवे) जैसे कि प्यासे चातक के लिये (दिवः-उत्साः) आकाश से वर्षाधारा आती है, वैसे तुम्हारे पाने के प्यासे मुझे तुम प्राप्त होओ, आओ।

★

देखना

अनागो—हत्या वै भीमा ।

अथर्ववेद १०. १. २९।

निरपराध की हिंसा करना बड़ा भयंकर है, निःसन्देह बड़ा भयंकर है ।

शरद् ऋतु

(अनुष्टुप् छन्द)

शरद् की ऋतुचर्या

लक्षण

जब वर्षा समाप्त हो जाती है, आकाश बादलों से निर्मल हो जाता है तो यह वर्षा और सर्दी (हेमन्त) के मिलाने वाली बीच की ऋतु शरद् ऋतु कहलाती है। इस के महीने आश्विन और कार्तिक हैं।

महिमा

यह ऋतु वसन्त ऋतु के मुकाबले की और उस के समान है। वसन्त से गर्मी की छमाही शुरू होती है तो इस शरद् से सर्दी की छमाही का प्रारम्भ होता है। अतः इस में भी न तो ऋतु अतिगर्म होती है और न अतिशीत। बड़ा सुहावना मौसम होता है। मीठा-मीठा शीत पड़ना प्रारम्भ होता है। सब वृक्ष-वनस्पतियाँ वसन्त में नवांकुर से पल्लवित और पुष्पित होती हैं, तो शरद् में ये वनस्पतियाँ पकती हैं, फलयुक्त हो परिपकावस्था में ही आ जाती है। वसन्त में कफ कुपित होता है तो इस में पित्त कुपित होता है। हठयोगी लोग इस ऋतु में, इस शीत छमाही के प्रारम्भ में भी षट्कर्मों द्वारा शरीरशुद्धि किया करते हैं, विशेषतया इस में पित्त की अधिकता का निवारण करते हैं, जैसे कि वसन्त में कफ का निवारण। एवं वसन्त के समान यह ऋतु भी प्राणसम्बन्धी क्रियाओं के अभ्यास करने के लिये अति उत्तम हैं। प्राणायाम का नया प्रारम्भ तथा प्राणोत्थान का अभ्यास इस ऋत में करना बहुत लाभदायक होता है।

वर्षा ऋतु के उपद्रवों के हट जाने के कारण इस ऋतु का लोग बड़े उत्साह से प्रारम्भ मनाते हैं, स्वागत करते हैं। प्राचीन समय में लोग इस शरद् ऋतु से यात्रा का, राजा लोग चढ़ाई आदि का प्रारम्भ किया करते थे। वर्षा ऋतु से सीले हुवे या जंग लगे हुवे या अन्य प्रकार से खराब हुवे अपने हथियार, औज़ार आदि सब वस्तुओं को तथा अपने घर को ठीक-ठाक और संस्कृत किया करते थे। हमारे देश के प्रसिद्ध दशहरा और दीपावली त्यौहार भी इसी ऋतु में आते हैं।

गुण

शरद् ऋतु उष्ण पित्तकारक तथा मनुष्यों में बल उत्पन्न करने वाली है। इस ऋतु में जठराग्नि और बल मध्यम अवस्था में होते हैं।

पथ्यापथ्य

वर्षा में कुपित होने वाला वायु यद्यपि इस शरद् ऋतु के आने पर शान्त हो जाता है, किन्तु वर्षा ऋतु के जल तथा वनस्पतियों के प्रयोग से शरीर में संचित हुआ पित्त इस ऋतु में आकर प्रकुपित हो जाता है। इसलिये इस ऋतु में पित्त-निवारक उपाय करने चाहियें। इस समय की धूप सेकना भी अच्छा नहीं है। इस से भी पित्त प्रकोप की सम्भावना होती है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जब तक जाड़ा अच्छे रूप में न पड़ने लग जाय तब तक भोजन भी अल्पमात्रा में करना चाहिये। पित्त प्रकुपित हो कर विषमज्वर (मलेरिया) इस

ऋतु में होता है। इस के लिये निम्बू की शिकंजवी, तुलसी की चाय, आदि का सेवन करना चाहिये। पित्त निकालने के लिये पित्त विरेचन लेने चाहियें (जैसे आमलकीचूर्ण मधु के साथ या चिरायता आदि तिक्त पदार्थ का क्वाथ लेवें)। पित्त विरेचन के लिये यह ऋतु बहुत अच्छी है।

पित्तकारक भोजन अर्थात् खट्टे, तीक्ष्ण गरम पदार्थ, यथा मिर्च, मसाला, तेल, दही आदि के सेवन से बचना चाहिये। पित्तहर, मधुर, कसैले, कड़वे रस तथा हल्के शीतल भोजन खाने चाहियें। घी और साठी के चावल विशेष हितकर होते हैं। दूध, गेहूँ, जौ, मूंग. ईख एवं मिश्री कर्पूर आदि का सेवन, जलाशय व चांदनी का सेवन इस ऋतु में हितकर है।

अतिपरिश्रमकारक व्यायाम तथा दिवाशयन इस ऋतु में त्यागने चाहियें।

हिन्दी कहावत के अनुसार आश्विन में करेला तथा कार्तिक में दही नहीं खाना चाहिये।

★

आश्विन मास

आश्विन (कन्या)

[आश्विन के लिये प्राणदायक व्यायाम—गुर्दों कटिप्रदेश को स्वस्थता प्रदान करने वाला]

प्रारम्भिक स्थिति में खड़े हो जाइए, भुजायें नीचे लटकी हों और हाथ खुले हुवे हों। टाँगों की माँसपेशियाँ तान लीजिए और इस सारी व्यायाम में गोडों व टाँगों को कभी झुकने मत दीजिए। दोनों भुजाओं को सामने लाइए और इन्हें सिर के ऊपर पूरी लम्बाई में खड़ा कर लीजिए। अब इसी स्थिति में सिर को हाथों के बीच में रखते हुवे अपने को इस तरह से आगे झुकाइए कि आप के हाथ नीचे आ कर पैर के अंगूठों को छू लेवें। प्रारम्भिक स्थिति में लौट आइए, अंगों को ढीला छोड़ दीजिए और इस व्यायाम को फिर कीजिए। जब भुजाओं को सिर के ऊपर खड़ा कर रहे हों तो अन्दर पूर्ण दीर्घ श्वास लीजिए और जब पैरों को छूने के लिए सामने झुक रहे हों तो श्वास को बाहर छोड़िए।

इस व्यायाम को करते हुवे अपना मन गुर्दों और कटि-प्रदेश पर केन्द्रित कीजिए और आप के गहरे और दीर्घ श्वास से इन अंगों को जीवन मिल रहा है ऐसा चित्रित कीजिए। इसी के अनुसार ध्यान के शब्द निश्चित कर लीजिए। मेरे गुर्दे ठीक काम कर रहे हैं यह ध्यान कीजिए।

इन अंगों को गौणतया चैत्र, आषाढ़ तथा पौष की व्यायामों से भी लाभ पहुंचता है।

★

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।।

ऋ. १. ५०. १० । अ. ७. ५. ५३ ।

विनय

हमें ऊपर-ऊपर, अधिक-अधिक प्रकाश में उठना है। इस अन्धकारमय अवस्था से निकल परमज्योति तक पहुँचना है। हमें अपनी यह वर्तमान अवस्था अन्धकारमय इसलिये नहीं प्रतीत होती है चूंकि हमें इस के अतिरिक्त अभी और किसी प्रकाश का पता नहीं है। यदि हमें इस से अगला ही प्रकाश दीखने लगे तो कम से कम इस वर्तमान अन्धेरी दशा से बाहर निकलने को हमारा जी अवश्य छटपटाने लगे। हाँ, उस अन्तिम ज्योति तक बेशक हम धीरे-धीरे ही पहुंचेंगे। एकदम उस चका-चौंध करने वाले महाप्रकाश के दृष्टिगोचर हो जाने पर तो शायद हमारी अनभ्यस्त निर्बल दृष्टि अन्धी हो जाय या हम पगला जायें। अतः हमें क्रमशः एक के बाद एक उच्चतर प्रकाश को देखते हुये ऊपर जाना होगा। हम इस तामसिक दशा को छोड़ राजसिक अवस्थाओं से गुजरते हुये सत्व के प्रकाश में पहुंचेंगे। इस जड़ (नास्तिकता) वाद और भोगवाद के अन्ध-

कार से उठ देववाद और यज्ञवाद के विविध प्रकाशों को देखते हुवे उस सर्वोच्च प्रकाश में जा पहुंचेंगे जहाँ एकेश्वरवाद और सर्वोदयवाद का अखण्ड राज्य है । जड़ता, स्थूलता के पार्थिव अन्धकार से उठ कर सूर्य-किरणों से प्रकाशित सूक्ष्मतर विस्तृत अन्तरिक्ष की सैर करते हुवे उस सूर्य ही को पा लेंगे जिस की कि ज्योतिर्मय किरणों से अन्य सब लोक प्रकाश पा रहे हैं । हे प्रभो ! हम पर ऐसी कृपा करो कि हम इस अन्धकारमय प्रकृति-ग्रस्त अवस्था से उठ कर नाना देवों को दिखलाने वाली अपनी आत्मिक ज्योति को विविध प्रकार से देखते हुये अन्त में तुम्हारी उस परमात्म-ज्योति को पा लेवें जिस में कि तुम सब देवों के देव और सब ब्रह्माण्ड के प्रेरक महान् सूर्य हो कर अपने अनन्त, अपार, अखण्ड प्रकाश में सदैव जगमगा रहे हो, सदैव देदीप्यमान हो रहे हो ।

शब्दार्थ—

(वयं) हम (तमसः परि) अन्धकार से ऊपर (उत्) ऊंचे उठ कर (उत्तरं ज्योतिः) अधिक उच्च, उच्चतर, प्रकाश को (पश्यन्तः) देखते हुये उस (देवत्रा देवं) सब देवों के देव, सब प्रकाशों के प्रकाशक (सूर्यं) सर्व-प्रेरक, महासूर्य को (उत्तमं ज्योतिः) उस सब से उत्तम, उच्चतम ज्योति को (अगन्म) प्राप्त करें ।

२ आश्विन

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥
ऋ. १०. १३७. २ ।

विनय

हे मनुष्य ! तुझ में दो वायु चल रही हैं। तुझ में श्वास और प्रश्वास के रूप में प्राण की दो तरह की गति हो रही है। श्वास द्वारा बाहर का शुद्ध वायु तेरे अन्दर के सिन्धु, स्पन्दनशील हृदय, तक आता है और प्रश्वास द्वारा अन्दर का दूषित वायु बाहर 'परावत्' तक पहुंचता है। हमारे अन्दर हृदय वह 'सिन्धु' स्थान है जहां कि सैंकड़ों रुधिरवाहिनी नाड़ी रूप नदियां आ आ कर मिलती हैं, और बाहर 'परावत्' वह वायु-मण्डल नामक स्थान है जो कि वायु का अपार अटूट भण्डार है। एवं ये जो परावत् से सिन्धु तक और सिन्धु से परावत् तक दो वायु हम में निरन्तर चल रही हैं ये ही हमारे जीवन का आधार हैं। क्योंकि इनमें से पहिली वायु-श्वास, हमारे सिन्धु में बाहर से प्राण और नवजीवन को लाती है और हमारे रुधिर के एक-एक कण को नव बल से संयुक्त कर देती है, और दूसरी वायु हमारे रुधिर में से, सारे शरीर में से, सब मल, दोष, विकार को बहा ले जाती है और बाहर परावत् में फेंक देती है। एवं हमारा जीवन बढ़ रहा है, हम नित्य अधिक-अधिक बलवान् और अधिक-

अधिक नीरोग होते जा रहे हैं। पर हे मनुष्य ! यह द्विविध प्राणक्रिया केवल तेरे भौतिक जीवन का सिद्धान्त नहीं है किन्तु तेरे मानसिक और आत्मिक जीवन का रहस्य भी इसी में है। तू जानता नहीं है कि सब महामना महापुरुष अपने श्वास द्वारा केवल शारीरिक शक्ति को ही नहीं किन्तु उत्साह, धैर्य, बल, सत्य, प्रेम आदि सब मानसिक और आत्मिक सद्भावों को अन्दर ले रहे हैं तथा प्रश्वास द्वारा सब मन्दता, कायरता, अशक्ति, झूठ, घृणा आदि सभी असद्भावों को बाहर निकाल रहे हैं और इसीलिये वे महान् हुये हैं। प्राण के साथ मन ऐसा जुड़ा हुआ है कि तू श्वास के साथ जो सोचेगा वह तुझ में आ बसेगा और जिसे प्रश्वास के साथ ध्यान करेगा वह बाहर निकल जायेगा। ज़रा अपनी प्रार्थना में तू इस सिद्धान्त का उपयोग करके देख। जिसे बसाना चाहता है उसे श्वास के साथ चित्रित करके देख और जो अशुभ विचार टलता ही नहीं है उसे उसके आने पर बार-बार प्रश्वास के साथ बाहर करके देख, तो तुझे निस्संदेह अद्भुत सफलता मिलेगी। एवं अपनी व्यायाम में, प्राणायाम में और प्रार्थना में तू इस जगद्व्यापक जीवन-सिद्धान्त का सदा उपयोग कर। तू देख कि तू अपनी इस द्विविध प्राणक्रिया द्वारा अनन्त शक्तिभण्डार से जुड़ा हुआ है और तू इस भण्डार से अपने प्रत्येक श्वास द्वारा यथेच्छ बल पा सकता है और अपने प्रत्येक प्रश्वास द्वारा उस पवित्रताकारक महापारावार में अपनी तुच्छ मलिनतायें फेंक कर सदा पवित्र होता रह सकता है। अतः हे मनुष्य ! तू उठ और अब अपने प्रत्येक श्वास और

प्रश्वास के साथ नित्य उन्नत और नवजीवन-सम्पन्न होता ना।

शब्दार्थ—

(इमौ द्वौ) ये दो प्रकार की (वातौ) वायुयें (वातः) वहती हैं, एक वायु (आ सिन्धोः) हृदय तक चलती है और दूसरी (आ परावतः) बाहर के वायुमण्डल तक चलती है। (अन्यः) उन में एक (ते) तेरे लिये (दक्षं) बल (आवातु) अन्दर बहा लावे और (अन्यः) दूसरा (यद् रपः) जो दोष बुराई है उसे (परावातु) बाहर बहा ले जावे।

३ आश्विन

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥
ऋ. १०. १३७. ३।

विनय

हे वायु! हे प्राण! तुम सर्व-औषध-रूप हो, तुम में सब की सब दवाइयां मौजूद हैं। मैं तो यूं ही इन बाहिर की नाना प्रकार की दवाइयों के खाने-पीने के चक्कर में पड़ा हुआ हूँ। यदि मैं, हे वात! तुम्हारा ठीक तरह सेवन करूँ, तुम्हारी शक्ति का उपयोग करूँ, तो मुझे कभी किसी दवा की जरूरत न हो। संसार के ९० प्रतिशतक रोगी इसीलिये रोगग्रस्त हैं चूंकि वे ठीक तरह श्वास लेना नहीं जानते तथा सर्वौषधमय तुम्हारा लाभ

उठाना नहीं जानते। यदि हम ठीक प्रकार श्वास लेवें तो अन्दर आता हुआ श्वास ही हमारा दिव्य औषधपान होवे और बाहर जाता हुआ प्रश्वास हमारे सब रोग-मल निकालने वाला होता रहे। यह जो कहा जाता है कि देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार हैं वे और कोई नहीं हैं, वे नासत्यौ (नाक से पैदा होने वाले) अश्विनौ ये श्वासप्रश्वास या प्राणापान ही हैं जिन्हें इड़ा, पिंगला, चन्द्रप्राण, सूर्यप्राण आदि अन्य रूपों में भी देखा जाता है। इस प्राणापान के नियमन द्वारा संसार के सब रोगों की दिव्य और अमोघ चिकित्सा हो जाती है। मैं यूं ही बाहर के वैद्यों को खोजता फिरता हूँ, जब कि असली दिव्य वैद्य मेरे अन्दर ही बैठे हुये हैं। सब औषध मेरे अन्दर मौजूद हैं, मैं इन्हें बाहर कहाँ ढूंढता हूँ ?

और हे प्राणो ! तुम तो देवदूत हो; हमारे अन्दर देवदूत हो कर चल रहे हो, हमारे अन्दर सब देवों के सन्देशों को ला कर सुनाते हुये सदा चल रहे हो। हम प्राणोपासना से रहित, स्थूलरत लोग वेशक तुम्हारे इन सूक्ष्म देव-सन्देशों को न सुनते हों, अतएव तुम्हारी दिव्य चिकित्सा से वंचित रहते हों, परन्तु जो तुम्हारे उपासक हैं वे तो अपने प्राण में सूक्ष्म रूप से चलने वाले सब पृथिवी, अप्, तेज आदि देवों के सन्देशों को सुनते हैं। शरीर की सब हरकतों व चेष्टाओं के प्रेरक और नियामक वात ! हे प्राण ! शरीर में दोष उत्पन्न होते ही तुम तो हम में दिव्य प्रेरणायें करते हो, शरीर को विशेष प्रकार से हिलाने-डुलाने व चेष्टा की प्रेरणा तथा विशेष प्रकार के भोजन-पान-आच्छादन की प्रेरणा पैदा करते हो, यदि हम उन्हें

सुना करें, तुम द्वारा आये उन देवों के सन्देशों को सुन लिया करें और उन के अनुसार आचरण कर लिया करें तो हमारे सब रोगों की चिकित्सा हो जाया करे, या बहुत अवस्थाओं में तो हम रोग के उत्पन्न होने से ही बच जाया करें। पर हम उन्हें सुनते नहीं हैं। दूसरी तरफ जो सुनने वाले हैं वे अपनी नासिकाओं में चलने वाले तुम्हारे 'स्वरों' को भी सुनते हैं; बल्कि उन्हें आधिदैविक संसार के स्वरों से मिलाये रखते हैं। अतएव उन का जीवन ऐसा संगीतिमय हो जाता है कि वे सदा स्वस्थ एवं नीरोग रहते हैं। हे प्राण! हम चाहे तुम दिव्यदूत के सन्देशों को सुनें, या न सुनें, पर यह सच है कि तुम हमारे अन्दर आये हुवे दिव्य चिकित्सक हो। तुम सर्वौषधरूप हो। हे हमारे स्वास्थ्य के लिये सम्पूर्ण देवों के दूत हो कर हम में चलने वाले प्राण! तुम सचमुच सर्वौषधरूप हो।

शब्दार्थ—

(वातः) हे प्राण! (भेषजं आवाहि) मुझ में औषध को बहा लाओ और (वात) हे प्राण! (यद् रपः) मुझ में जो दोष, मल है उसे (वि वाहि) मुझ से बाहर बहा ले जाओ। (त्वं) तुम (हि) निश्चय रूप से (विश्वभेषजः) सर्व-औषध-रूप हो, (देवानां दूतः ईयसे) तुम देवताओं के दूत हो कर चल रहे हो।

४ आश्विन

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम् ॥

ऋ. १. ५०. १३।

विनय

मनुष्य कभी अहिंसक नहीं हो सकता है, जब तक कि वह आस्तिक न होवे, जब तक कि उसे परमात्मा के परिपूर्ण और अटल न्याय में विश्वास न होवे। दुष्ट-पापी-अत्याचारी का मैं क्यों न विनाश कर डालूंगा जब कि मैं देखता हूँ इस के सिवाय और कोई इलाज नहीं है। परन्तु आत्म-ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इस तरह नहीं सोच सकता। परमात्म-सूर्य उदय हो जाने पर सब दृश्य पलट जाता है। तब दीखता है कि किसी की हिंसा करना उस के वशंगत हो जाना है, उस के काबू चढ़ जाना है। शत्रु को अपने काबू करने का एकमात्र उपाय तो उसे अपनाना, उस तक अपनी आत्मा को फैला लेना ही है। आत्म-प्रकाश फैल जाने पर संसार में कोई अनात्म नहीं रहता, कोई शत्रु या द्वेष्य नहीं रहता। देखते क्यों नहीं अपने परिपूर्ण तेज और बल के साथ वह 'आदित्य' इस विश्व में उदित हुवा-हुवा है, अपनी परिपूर्ण सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के साथ वह अखण्ड राजा विश्व का शासन कर रहा है। वह तो अपने उदित होने, जागृत रहने मात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की ठीक-ठीक व्यवस्था कर रहा है। उस का सर्वज्ञ तेजस्वी कानून स्वयमेव

स्वभावतः सब दण्डनीयों को दण्ड देता हुआ, सब हिंसनीयों का हिंसन करता हुआ निरन्तर चल रहा है। तो फिर महाअज्ञानी और मूर्ख मैं इस संसार में किसी को मारने वाला कौन होता हूँ? सचमुच किसी की हिंसा करना ईश्वरीय "कानून को अपने हाथ में लेना है।" हिंसा करना केवल ईश्वरीय व्यवस्था में दख़ल डालना ही नहीं है, किन्तु उस व्यवस्था (क़ानून) का अपराधी बनना भी है। इसलिये उसे उदय हुआ देख लेने पर, उसे सब दण्डनीयों का ठीक-ठीक निरन्तर दण्डविधान करता हुवा देख लेने पर, मैं तो अब निश्चिन्त और शान्त हो गया हूँ मैं अब किसी की हिंसा करने की मूर्खता नहीं कर सकता। मैं देखता हूँ कि मैं उसके सच्चे शासन में यदि कुछ सहायता कर सकता हूँ, उस की दुष्टों-पापियों-अत्याचारियों के इलाज में कुछ सहायता कर सकता हूँ, तो वह मैं अहिंसा द्वारा, प्रेम द्वारा, अपने आत्मा के विस्तार द्वारा ही कर सकता हूँ। और इस तरह अहिंसा की शरण में पहुँच कर मैं यह भी देखता हूँ कि अब मैं कभी किसी का वशंगत, आधीन व गुलाम भी नहीं बन सकता हूँ। सचमुच किसी का 'रंधन', हिंसा करना उसके वंशगत होना है।

शब्दार्थ—

देखो, (अयम्) यह (आदित्यः) आदित्य, परम आत्मसूर्य (मह्यं) मेरे लिये (द्विषन्तं) शत्रु को, दुष्ट अत्याचारी शत्रु को (रंधयन्) नाश करता हुआ, वशवर्ती करता हुआ (विश्वेन सहसा सह) अपने सम्पूर्ण तेज व बल के साथ (उद् अगात्) उदित हुआ-हुआ है, इस लिये (अहम्) मैं (द्विषते)

शत्रु की (मो) मत (रधं) हिंसा करूँ, शत्रु के वशवर्ती न होऊँ।

५ आश्विन

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

अ. १. ३४. २।

विनय

मैं माधुर्य-प्राप्ति की साधना में लगा हूँ। संसार की प्रत्येक वस्तु के सेवन द्वारा मैं अपने में मधुरता बसाना चाहता हूँ। हे माधुर्य ! तुम मेरे सम्पूर्ण जीवन में घुल जाओ और मेरे सम्पूर्ण जीवन को माधुर्यमय कर दो। मैं वाणी से मीठा ही बोलूँ। मेरी जीभ के अग्रभाग में मधु हो और मेरे जीभ का मूल और भी अधिक मधुभरा हो। हे मधुमय प्रभो ! माधुर्य को न समझने वाले मनुष्य केवल काम निकालने के लिये भी मधुरता का आश्रय लेते हैं। अतः वे ऊपर के व्यवहार में, दिखाव में, मधुरता ले आना काफी समझते हैं। वे जिह्वामूल में अन्दर-अन्दर द्वेष रखते हुवे भी जिह्वाग्र में प्रेम और माधुर्य ही प्रकट करते हैं। पर उन्हें मालूम नहीं कि ऐसे धोखे के माधुर्य से तो कटुता ही लाख दर्जे अच्छी है। ऐसे झूठे माधुर्य से वास्तव में कोई काम भी सिद्ध नहीं होता है। वे बिचारे माधुर्य की असली

अपार शक्ति को, मैत्री के महाबल[1] को, नहीं समझते। अतः मेरी वाणी से तो जो प्रेममय मधु झरा करता है वह सदा मेरे वाणी-मूल से, मेरे हृदय से, मेरे प्रेमभरे मानसस्रोत से ही आकर झरता है। मेरा एक-एक कर्म भी मधुमय पुष्पों को बरसाता है। हे माधुर्य! तुम मेरी प्रत्येक चेष्टा में, प्रत्येक हरकत में, प्रत्येक व्यवहार में ही केवल समाये हुये न होओ, किन्तु मेरी प्रत्येक बुद्धि में, प्रत्येक विचार में, प्रत्येक निश्चय में तुम्हारा वास हो। मेरे अहर्निश का एक-एक संकल्प भी मधुमय होवे। हे मधु! तुम मेरे सम्पूर्ण अन्तःकरण में ऐसे रम जाओ कि मेरा चित्तप्रदेश भी इस से अव्याप्त न रहे अर्थात् मेरी एक-एक वासना भी माधुर्य से वासित हो जाय और मैं अपनी स्मृति व स्वप्न में भी कभी कोई द्वेष, अमैत्री व कटुता का स्वप्न तक न ले सकूं। हे मेरे प्रेम व ज्ञानस्वरूप प्रभो! मैं तुम्हारे मधुरूप का उपासक हुआ हूँ।

शब्दार्थ—

(मे) मेरी (जिह्वायाः अग्रे) जिह्वा के अग्रभाग में (मधु) मिठास होवे, और (जिह्वामूले) जिह्वा के मूल में (मधूलकम्) और भी अधिक मिठास, मिठास का झरना होवे। हे मधु! तू (इत् अह) अवश्य ही (मम) मेरे (क्रतौ) प्रत्येक कर्म में, प्रत्येक बुद्धि में (असः) विद्यमान रह, और तू (मम) मेरे (चित्तं) अन्तःकरण के चित्त प्रदेश तक (उपायसि) पहुंच जा, व्याप्त होजा।

---

१ 'मैत्र्यादिषु बलादीनि' योगदर्शन ३.२३।

६ आश्विन

यन्मन्यसे वरेण्यं इन्द्र द्युक्षं तदाभर।
विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने ॥

ऋ. ५. ३९. २।

विनय

संसार में मनुष्यों के पास अन्नभण्डार, पशु, पुत्र, यान, सामान, मुद्रायें (रुपया-पैसा), प्रतिष्ठा, प्रभाव, साख आदि नाना प्रकार के ऐश्वर्य होते हैं, और यह भी ठीक है कि इस धन-ऐश्वर्य द्वारा संसार के बड़े काम चल रहे हैं, सुख भोगे और भुगाये जा रहे हैं। पर ऐसे लोग भी बहुत हैं जिन के पास का यह धन उन्हें सुखी अच्छा बनाने की जगह उन्हें दुःखी और अवनत कर रहा है। धन के कारण उन के शरीर, मन और आत्मा निर्बल होते जा रहे हैं। ऐसे भी हैं जिन का धन उन के ही नहीं किन्तु अन्यों के भी विनाश का कारण हो रहा है। ऐसे धन को पाकर हम क्या करेंगे? यह वरेण्य धन नहीं है। इस का तो न होना अच्छा है। एवं कइयों का धन इतना निस्तेज होता है कि यदि वह उन्हें हानि नहीं पहुँचाता है तो कम से कम उन्हें लाभ भी नहीं पहुँचाता। उन के धन में शक्ति नहीं होती, वह उन के उपयोग में नहीं आता या नहीं आ सकता। वह ऐसा ही है जैसा कि उतना ही मट्टी का ढेर। इस धन को भी प्राप्त कर के हम क्या करेंगे? अतः हमें तो अपने

वरेण्य और द्युति वाले धन का ही दान करो।

पर इस जटिल संसार में इस सच्चे धन का पता पाना हमारे लिये लगभग असम्भव है। परिमित ज्ञान वाला मनुष्य इसे कहां तक जान सकता है कि यह धन कैसा है। इसीलिये हे परमेश्वर! तुम्हीं कुछ ऐसा करो कि हमारे पास वरने योग्य और तेजस्वी धन का ही आगम हो। तेरी समझ ही निर्भ्रान्त है, पक्की है। अतः हम तो कहते हैं कि तू जिसे सच्चा धन समझता है उसे ही हमारे पास आने दे। जो धन वरणीय नहीं है, जो तेजोरहित है उस कुत्सित धन से हम अपने को भरना नहीं चाहते। ऐसा धन चाहे कितनी मात्रा में हमारे सामने आवे, चाहे कितने प्रलोभक सुन्दर रूप में हमारे सामने आवे, उसे हम पाना नहीं चाहते हैं। उस से हम बचना चाहते हैं। ऐसा कुत्सित धन हमारे पास न जमा हो। अतः तुम ही ऐसा करो कि हमारे पास वही धन खिंच कर आवे, वही धन संचित होवे जो कि वरने योग्य है जिस से हमारी वास्तविक शरीर-मन-आत्मा की उन्नति हो, जिस से सब लोगों का कल्याण हो और वह धन आवे जो कि कभी निस्तेज, निरर्थक और भार-रूप न हो। हे परमैश्वर्य वाले! तुझ द्वारा हम सदा ऐसे ही धन को प्राप्त करना चाहते हैं।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (यत्) जिसे तू (वरेण्यं) वरने योग्य (द्युक्षं) और तेजोयुक्त ऐश्वर्य (मन्यसे) मानता है (तद्) उसे (आभर) हमारे लिये ला, जिस से कि (वयं) हम (ते) तेरे (तस्य) उस (अकूपारस्य) अकुत्सितपूरण,

जिस से अपने को भरना कुत्सित न होवे ऐसे (दावने) दान को (विद्याम) प्राप्त कर सकें।

७ आश्विन

ये नदीनां संस्रवन्ति उत्सासः सदमक्षिताः।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैः धनं संस्रावयामसि ॥

अ. १. १५. ३।

विनय

सदा बहने वाली नदियों को देखो। ये अक्षीण स्रोतों से निकलती हैं, अतः इन का बहना कभी बन्द नहीं होता। स्रोतों से सदा निरन्तर नया-नया जल निकलता आता है, और ये नदियाँ निरन्तर अप्रतिरुद्ध गति से बहती चली जा रही हैं। नदी के प्रत्येक स्थान पर प्रतिक्षण नया-नया जल आता जाता है और वहाँ का पहला-पहला जल आगे बढ़ता जाता है। इसी तरह संसार में धन का प्रवाह भी निरन्तर बह रहा है। एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास धन पहुँच रहा है। कोई धनराशि किसी से किसी के पास और कोई किसी दूसरे से किसी और के पास जा रही है। एवं हमारे मनुष्यसमाज में नानाप्रकार से धन की धारायें बह रही है। जैसे नदी प्रवाह को रोक लेने से रुका हुआ पानी सड़ने लगता है और नाना रोगों को पैदा करता है, वैसे ही जिस मनुष्य समाज में लोभी-लालची, अपना

ही पेट भरने वाले या कंजूस लोग धन के प्रवाह को अपने यहां रोक रखते हैं तो उस समाज में धनवैषम्य के कारण नाना सामाजिक रोग और उपद्रव प्रकट होते हैं—ज़िमींदार और किसानों, स्वामी और श्रमियों, अमीर और ग़रीबों के झगड़े खड़े होते हैं और हड़ताल, अत्याचार, व क्रान्तियां जन्म पाती हैं। सारा राष्ट्रीय शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है। इसलिये हे प्रभो! मैं तो नदी के प्रवाह की तरह अपने पास आये धन को आगे-आगे प्रवाहित करता जाता हूँ। उसे अपने पास रोकने की मूर्खता नहीं करता। सब तरफ़ से आये धनों को रुपये-पैसे से लेकर आत्मिक ऐश्वर्यों तक के सब प्रकार के धनों को सब तरफ़ आगे-आगे प्रवाहित करता जाता हूं। हे नाथ! सब धन तेरा है। मैं तो केवल तुझ से आते हुये ऐश्वर्यप्रवाह को लेने वाला और इसे आगे पहुंचाने वाला हूँ। क्षण भर जो मेरे पास हरेक नये धन के रूप में ताज़ा जल पहुंचता है उससे ही तुझे तो मेरी पूर्ण पुष्टि मिलती जाती है। यही धनों का उपभोग है। धन को रोक रखने से तो यह हमें पुष्टि नहीं देता किन्तु बिगड़ कर सड़ कर हमारे साथ सारे समाज को हानि पहुंचाता है। अतः हे नाथ! मैं तो तेरे प्रत्येक ऐश्वर्य को ताज़ा-ताज़ा उपभोग कर उसे आगे-आगे चलाता जाता हूँ, जिस से कि मुझे तुझ अक्षीण स्रोत से अगला-अगला नित्य नया ऐश्वर्य-जल मिलता रहे, और यह प्रवाह मुझे सब प्रकार विकसित और पुष्ट करता हुआ मुझ द्वारा आगे-आगे भी बहता ही जाये।

शब्दार्थ—

(ये) जो (सदं अक्षिताः) सदा चलते रहने वाले,

कभी बन्द न होने वाले (नदीनां उत्सासः) नदियों के स्रोत (संस्रवन्ति) निरन्तर बहते हैं (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन्हीं अपने सब प्रवाहों के साथ (धनं) मैं अपने धन को (संस्रावयामसि) लगातार प्रवाहित करता जाता हूँ।

८ आश्विन

गायन्ति त्वा गायत्रिणो अर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतो उद्वंशमिव येमिरे॥

ऋ. १. १०. १।

विनय

हे भगवन्! जिसने जिस रूप में तुम्हारी महिमा को अनुभव किया होता है वह उसी रूप में तुम्हारा वर्णन करता है और उसी रूप में तुम्हें देखता है। तुम तो शतक्रतु हो, तुम्हारा अनन्त ज्ञान, कर्म और गुण संसार में सैंकड़ों प्रकार से प्रकट हो रहा है, अनुभूत हो रहा है। अतः प्रत्येक मनुष्य तेरा भजन अपने-अपने अनुभव के अनुसार भिन्न-भिन्न तरीके से कर रहा है। भिन्न-भिन्न तरह से तुझे अनुभव कर भिन्न-भिन्न प्रकार से ही सब कोई तुझ से मिलने का—तेरी तरफ़ पहुंचने का—यत्न कर रहा है। कोई गा-गा कर तुझ से अपनी समीपता अनुभव करना चाहता है, तो कोई इसके लिये स्तुति-पाठ करता है, या ध्यान करता है। यह सब हे शतक्रतो! अपने-अपने

तरीके से तेरी ही अनुभूति का प्रकाश करना है, अपने-अपने तरीके से तेरे ही झण्डे को ऊंचा करना है। अरे, ये नाना मत मतान्तर वाले, ये नाना तरह से उपासना करने वाले इन सब तरीकों में तेरी ही महिमा को, तेरे ही प्रचार को क्यों नहीं अनुभव करते ? ओह, तू तो इन सब में है। सचमुच, मुग्ध करने वाले साम के दिव्य गायनों में तू है, गंधर्वों की वाणी में तू है और मस्ती से गायी जाती हुई भक्त की सुरीली तानों में तू है। उपासक के अनवरत जप में तू है, सच्चे व्याख्याता के व्याख्यान में तू है, और अडोल आसन लगाकर बैठे योगी के एकतान ध्यान में तू है। सब मन्त्रों में, सब सन्तों की वाणी में, सब प्रकार के भजनों में तू है। क्योंकि इन सभी साधनों से तेरा ही भक्तवंश बढ़ता है, जगत् में तेरी भक्ति का प्रसार होता है। ये सब भजन-साधन और कुछ नहीं हैं, ये सब नाना प्रकार से उठाये गये तेरी महिमा के रंगबिरंगे झण्डे हैं। अहा ! देखने योग्य दृश्य है, संसार के सब ज्ञानी पुरुष तेरे सन्मान के लिये, तेरी महिमा को ऊंचा करने के लिये, इन अपनी विविध प्रकार की भजनरूपी तरह-तरह की ध्वजाओं को ऊँचे उठाये हुये चल रहे हैं; सभी ज्ञानी पुरुष तेरे सन्मान में अपने-अपने ध्वजादण्ड उठाये चले जा रहे हैं। अहा, यह क्या ही दर्शनीय दृश्य है।

शब्दार्थ—

(गायत्रिणः) साम गान करने वाले (त्वा) तेरे ही (गायन्ति) गीत गाते हैं (अर्किणः) मंत्र ऋचाओं से स्तुति

करने वाले (अर्क) तुझ देव का ही (अर्चन्ति) पूजन करते हैं, (ब्रह्माणः) एवं सब ज्ञानी लोग (शतक्रतो) हे असंख्य प्रकार की प्रज्ञा व कर्मों वाले ! (त्वा) तुझे ही, तेरी महिमा को ही (वंशं इव) ध्वजादण्ड की तरह (उद्येमिरे) ऊँचा उठाते हैं।

६ आश्विन

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

ऋ. १०. १५१. १।

विनय

संसार की कोई भी अग्नि श्रद्धा के बिना प्रदीप्त नहीं होती और कोई भी त्याग, कोई भी बलिदान, श्रद्धा के बिना किया नहीं जा सकता। किसी भी प्रकार की सफलता पाने के लिये त्याग करना और अग्नि प्रदीप्त करना आवश्यक होते हैं, हम किसी भी दशा में उन्नति करना चाहें हमें सदा एक तो आत्म-बलिदान के लिये तैय्यार होना चाहिये और दूसरे यह बलिदान जिस उच्च ध्येय के लिये करना होता है उस ध्येय की पवित्र अग्नि हममें धधक रही होनी चाहिये। पर यह दोनों ही कार्य—अग्निदीपन और आत्म-बलिदान—विना श्रद्धा के कभी नहीं बन सकते। अतः संसार के सब धीर पुरुष राष्ट्राग्नि, संग्रामाग्नि, धर्माग्नि, ज्ञानाग्नि, आत्माग्नि, आदि नाना अग्नियों

को किसी उच्च भावना से प्रेरित होकर अपने अटूट विश्वास द्वारा नित्य प्रदीप्त कर रहे हैं और उसमें अटल श्रद्धा से अपना सर्वस्व तक स्वाहा करते हुये अग्रसर हो रहे हैं। क्या तुम समझते हो कि वह यज्ञवेदि की भौतिक स्थूल अग्नि भी बिना श्रद्धा के ही समिद्ध होती है? अग्निहोत्र का रहस्य जानने वाले तो देखते हैं कि भक्त अग्निहोत्री लोग जो अग्नि प्रदीप्त करते हैं वे अपनी अन्दर की श्रद्धा को ही उस अग्नि में प्रदीप्त करते हैं। बाहर की अग्नि जलाना निरर्थक है, उससे कोई अग्निहोत्र का फल नहीं मिल सकता, जब तक कि अन्दर की श्रद्धाग्नि न जल रही हो। वास्तव में कोई भी यज्ञ, कोई भी अग्निदीपन और आत्मत्याग कोई भी उन्नति कारक कार्य बिना श्रद्धा के नहीं चल सकता। इसीलिये हम चिल्लाते हैं, 'श्रद्धा को अपनाओ, श्रद्धामय पुरुष बनो'। हे मनुष्यो! अपना एक भी काम श्रद्धा-रहित होकर मत करो। श्रद्धा के बिना कभी कुछ सध नहीं सकता। तुम्हारे सब कर्तव्यों की सफलता, तुम्हारे धर्म के सब शास्त्रोक्त विधि-निषेध श्रद्धा पर ही अवलम्बित हैं। हम तो वेदवाणी का नाम लेकर घोषित करते हैं, अपनी वाणी से पुकारते हैं, अनुभव करते हुये सब भाइयों से निवेदन करते हैं कि भजनीय धर्म-शरीर का मूर्धा श्रद्धा है। श्रद्धा बिना सब धर्म निर्जीव है। हे भाइयो! सब करना धरना बेकार है, सब जीवन मृतकसमान है, जब तक कि इसमें श्रद्धा का, प्राण मौजूद नहीं है।

शब्दार्थ—

(श्रद्धया) श्रद्धा से (अग्निः) अग्नि (समिध्यते) प्रदीप्त

होती है और (श्रद्धया) श्रद्धा से ही (हविः हूयते) हवि दी जाती है, आत्म बलिदान किया जाता है। (भगस्य) सब भजनीय वस्तु के, भागधेय धर्म के, ऐश्वर्य के (मूर्धनि) मूर्धा स्थान में (श्रद्धां) श्रद्धा को हम लोग (वचसा) वाणी द्वारा, वेदवाणी द्वारा (वेदयामसि) घोषित करते हैं, प्रकट करते हैं।

१० आश्विन

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥

अ. ३. २४. ५।

विनय

हे दो हाथों वाले मनुष्य ! तू सौ हाथों वाला होकर धन संग्रह कर, सौ गुनी शक्ति से धन धान्यादि ऐश्वर्यों को इकट्ठा कर। परन्तु इस उपार्जन किये हुवे अपने धन को हज़ार हाथों वाला होकर सत्पात्र में दान कर दे। धन संग्रह करने के लिये यदि तू सौ हाथों वाला हुआ है तो धन को दूर दूर बाँट देने के लिये, दान कर देने के लिये, तू हज़ारों हाथों वाला हो जा। इससे निःसन्देह तेरी बढ़ती होगी, तेरी उन्नति होगी, तेरा बड़ा भारी कल्याण होगा। तू अपनी "कृत" और "कार्य" कमाई को देख। तूने जो कमाया है वह तो कमाया ही है, वह तेरी "कृत" कमाई है; परन्तु जो तूने हज़ार हाथों से दूर-दूर अपने दान को फैलाया है वह भी तेरी ही कमाई है।

वह तेरी कमाई 'कार्य' है, वह भविष्य में अपना फल दिखलायेगी। वास्तव में, जैसे समाहृत किये धान्य को सत्क्षेत्र में (जोते हुये खेत में) संकिरण कर देने से (बखेर देने से) उस का एक-एक दाना हज़ारों दानों को देने वाले पौधे के रूप में पुष्पित और फलित हो जाता है, उसी तरह किसी यज्ञिय कार्य में दिया हुवा धन सत्पात्र में दिया हुवा दान, अनन्त गुणा हो कर फलित हुवा करता है। इस तरह हे मनुष्य! तू देख कि तू कितनी बड़ी फ़सल का स्वामी हो जाता है, तू कितनी बड़ी भारी 'स्फाति' को प्राप्त हो जाता है? यह बढ़ती 'शतहस्त से लेने और सहस्रहस्त से देने' के सिद्धान्त का फल है। हे मनुष्य! तू इस सिद्धान्त का पालन करता हुवा अपनी इस बढ़ती को सदा ठीक प्रकार से प्राप्त करता रह।

शब्दार्थ—

(शतहस्त) हे सौ हाथों वाले मनुष्य! (समाहर) तू इकट्ठा कर और (सहस्रहस्त) हे हज़ार हाथों वाले! (संकिर) तू दान कर, बखेर। इस तरह (कृतस्य) अपने किये हुये की (कार्यस्य च) और किये जाने वाले की (स्फातिं) बढ़ती को, फसल को (इह) तू इस संसार में (समावह) ठीक प्रकार से प्राप्त कर।

११ आश्विन

उते देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥
ऋ. १०. १३७. १ । अ. ४. १३. १ ।

विनय

हे देवो! तुम्हारे इस संसार में कोई भी मनुष्य सदा के लिए नहीं पतित हो जाता, कोई मनुष्य सदा के लिए मर भी नहीं जाता। पतित से पतित मनुष्य इस संसार में फिर जब चाहे तब उत्पन्न हो सकता है। मरे हुये मनुष्य को भी, हे देवो! तुम फिर जिला देते हो; पापी से पापी पुरुष भी तुम्हारा सहारा पाकर फिर पूरा पुण्यात्मा हो जाता है। प्रायः पतित हो कर हम लोग निराश हो जाया करते हैं, समझने लगते हैं कि अब तो हमारा उद्धार किसी तरह नहीं हो सकता। परन्तु हे देवो! तुम तो देव हो। तुम बड़े भारी ज्ञान-प्रकाश और शक्ति से युक्त हो। तुम्हारे रहते हम कैसे फिर उन्नत न हो सकेंगे? हे परोपकार के लिये ही जीवन धारण करने वाले श्रेष्ठ जनो! हे पतितों को उठाने वाले महात्माजनो! हे करुणा-परायण मेरे गुरुजनो! तुम देव हो! तुम्हारी कृपा में बड़ी अद्भुत शक्ति है। तुमने न जाने कितने पतितों को उबारा है, न जाने कितने डूबतों को बचाया है? प्राण निकलते-निकलते आ बचाया है, जघन्य पापियों को अन्तिम क्षण में पुण्य-जीवन की तरफ़ फेर लिया है। मर कर तो सभी जीव पुनर्जन्म पाते

हैं। किन्तु असल में मरना तो पापी होना ही है, यदि अमर आत्मा किसी तरह मरता है तो वह पाप अपराध करने से ही मरता है। परन्तु हे देवो ! तुम इस अत्यन्त विकट आत्मिक मौत से भी उबार लेने वाले हो, फिर पुण्य-जीवन का संचार कर देने वाले हो। तो हम तुम्हारे होते, क्यों कभी निराश होवें ? हतोत्साह हो कर क्यों हाथ-पैर मारने छोड़ देवें ? क्यों न तुम्हारी जीवन-दायी शरण का आश्रय लेवें ? हे देवो ! हमें पूरा-पूरा विश्वास है कि तुम शरण पड़े हम पतितों को अवश्य ही ऊपर उठा लोगे, हम मरे हुओं को अवश्य ही फिर जीवित कर दोगे।

शब्दार्थ—

(देवाः) हे देवो ! (देवाः) तुम देव (अवहितं) नीचे पड़े हुये, पतित को (उत) भी (पुनः) फिर (उन्नयथाः) उन्नत कर देते हो, उठा लेते हो और (देवाः) देवो ! (देवाः) तुम देव (आगः चक्रुषं) पाप करने वाले को, पापी को (उत) भी (पुनः) फिर (जीवयथाः) जिन्दा कर देते हो, जीवन दे देते हो।

१२ आश्विन

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैः व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥
अ. ३. १३. ३।

विनय

मैं पवित्रात्मा सब प्रकार के पाप से सर्वथा वियुक्त हूँ, मैं निष्पाप हो कर सब प्रकार के रोग से जुदा हूँ, एवं निष्पाप और नीरोग हो कर मैं सदा आयु और प्राण से संयुक्त हूँ। क्या कभी ग्राम्य-पशु और जंगली-पशु एक साथ रह सकते हैं? अरे, वे तो एक दूसरे को देख कर विरुद्ध दिशा में भागते हैं। तो फिर मेरे सामने कोई पाप कैसे ठहर सकता है? और क्या कभी पानी को भी प्यास लग सकती है? तो फिर मेरे पास पाप कैसे फटक सकता है? ओह नहीं, मुझ विशुद्धात्मा में पाप का स्पर्श तक नहीं हो सकता। और मुझ निष्पाप पर रोग की छाया तक नहीं पड़ सकती। हे मेरे निर्लेप विशुद्ध आत्मन्! मैं तो सदा तेरे प्राण और जीवन से सम्पन्न हूँ, और इस प्राण और जीवन से सदा सम्पन्न रहूँगा।

शब्दार्थ—

(ग्राम्याः पशवः) ग्राम्य पशु (आरण्यैः) जंगली पशुओं से (वि असरन्) विरुद्ध दिशा में जाते हैं, (आपः) पानी (तृष्णया) प्यास से (वि) वियुक्त होते हैं। इसी तरह (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब प्रकार के पाप से (वि) वियुक्त हूँ, (यक्ष्मेण) रोग से (वि) वियुक्त हूँ, और (आयुषा) आयु, प्राण, जीवन से सदा (सं) संयुक्त हूँ।

१३ आश्विन

असद् भूम्याः समभवत् तद् द्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु ॥

अ. ४. १९. ६ ।

विनय

क्या तुम समझते हो कि संसार में 'असत्' की, पाप की ही विजय हो रही है? सच यह है कि प्रभु अपने इस संसार में बेशक कुछ देर के लिये पाप को बढ़ने, पकने देते हैं परन्तु समय आने पर उस का विनाश तो अवश्यंभावी होता है। बुराई वृक्ष बेशक खूब फलता फूलता है, पर वह फिर जड़ सहित उखड़ जाता है। भूमि से उठ कर पाप कभी-कभी सारे अन्तरिक्ष में फैल जाता है और इतना बढ़ता है कि वह द्युलोक के प्रकाश को भी ढक लेता है। तब मनुष्य हाहाकार मचाने लगते हैं। पर अगले ही क्षण वह छिन्न-भिन्न होने लगता है और लौटता हुआ अपने उठाने वाले के लिये दुःख की प्रतिक्रिया लाकर सब का सब वहीं विलीन हो जाता है। सब अधर्म भूमि से उठता है, अन्धकार, अज्ञान तथा स्थूलता से उत्पन्न होता है। वह अपनी स्थूलशक्ति, पशुशक्ति को बढ़ाता हुवा सब तरफ़ फैलता है। अपने इस स्थूल बल द्वारा वह पाप के विरुद्ध उभड़ने वाले सब लोगों को दबा देता है। उस के इस दामक स्वभाव के कारण धीरे-धीरे संसार भर में सब कहीं उस की ही दुंदुभि बजने लगती है, उसी का सिक्का चलने लगता है। संसार के बड़े-

बड़े दिव्य पुरुषों का, बड़े ईश्वरपरायण महात्माओं का दिव्य तेज भी उस के अन्धकार के सामने ढक सा जाता है। तब सब भयभीत साधारण लोग बिना चूं-चा किये उस के अंधेर राज्य को चलाते जाने में ही अपना हित व स्वार्थ देखते हैं, यद्यपि उस अंधेरे में वे बड़े बेचैन होते जाते हैं और उन की वह घबराहट बढ़ती ही जाती है। उस समय ईश्वरीय नियम की अटलता को देखने वाले विरले ही होते हैं जो घबराते नहीं हैं, जो कि प्रसन्न होते हैं कि पाप जितना अधिक से अधिक बढ़ सकता है वह बढ़ चुका है और अब उस के विनाशकाल का प्रभात होने वाला है। उस ऊंचाई से, अधर्म के खोखले आधार पर खड़ा किया वह सब पाप का ठाठ तो गिरता ही है, अपने बोझ से स्वयमेव गिरता ही है पर वह अपने कर्त्ता को, अपने खड़े करने वाले को सन्ताप पहुँचाता हुवा गिरता है। वह लौट कर उसी पर गिरता है और उस को साथ लेकर भूमिसात् हो जाता है।

हे मनुष्यो ! इस संसार में विजय तो सत् की, पुण्य की ही हो रही है।

शब्दार्थ—

(असत्) पाप, अधर्म (भूम्याः) भूमि से (समभवत्) उत्पन्न होता है और (तत्) वह (महत् व्यचः) बड़े भारी रूप में [अन्तरिक्ष में] फैल कर (द्यां) द्युलोक तक (एति) चढ़ जाता है। किन्तु (ततः) वहां से, उतना बढ़ कर भी (तत्) वह (वै) निःसन्देह (विधूपायत्) कर्ता को सन्ताप

देता हुआ (प्रत्यक्) उस के प्रति उलटा लौट कर (कर्त्तारं) उस कर्त्ता [पाप-कर्त्ता] पर ही (ऋच्छतु) आ पड़ता है।

१४ आश्विन

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमंगुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यम्, आत्मने तपनं तु सः॥

अ. ४. १८. ६।

विनय

जब कोई निर्बल अशक्त पुरुष क्रोध के आवेश में आकर किसी बलवान् की हिंसा करने के लिये झुंझला कर उठता है तो वह प्रायः अपने ही हाथ-पैरों को तोड़ लिया करता है। वह उस बलवान् का कुछ नहीं बिगाड़ पाता। उतावलेपन का, बिना सोचे विचारे उत्तेजित हो कर कुछ न कुछ कर डालने का, यही परिणाम हुआ करता है। असल में सदैव निर्बल पुरुष ही हिंसा करता है। और सदैव ही हिंसा द्वारा हम जो कुछ करना चाहते हैं उसे करने में अशक्त रहते हैं। क्योंकि हिंसा द्वारा हम कभी किसी का विनाश नहीं कर सकते, कुछ देर के लिये उसे सता सकते हैं, उस के कार्य को रोके भी रख सकते हैं, पर इस सब से तो वह हिंस्यमान पुरुष और भी फलता-फूलता है, बढ़ता है। और सदैव हिंसा द्वारा अपनी ही हानि होती है। ज़रा उच्च दृष्टि से देखें तो यह भी दीखेगा

कि किसी अपने मनुष्य भाई की हिंसा करने में हम असल में अपने ही अंग-अवयव को, अपने ही हाथ पैर को तोड़ते हैं। हिंसा करने से जो अपने को जलाना और अपने आत्मा की कमज़ोरी होती है वह तो होती ही है। इस लिये ज्ञानी पुरुष सदा अपनी हिंसा करने वाले पर तरस ही खाते हैं। जब उन्हें कोई लाठी मारता है तो उन्हें अपने शरीर की कुछ परवाह नहीं होती, किन्तु उन्हें फ़िकर यह होती है कि मारने वाले के कोमल हाथों में तो कहीं लाठी चलाने से कुछ पीड़ा नहीं पहुंची है। वास्तव में हमारी हिंसा द्वारा हमारा तो सदा भला ही होता है, इस से हमारी सहन शक्ति बढ़ती है और हमारी तपस्या होती है और यदि हमारा शरीर भी इस से छूट जाता है तो हमारा एक पवित्र यज्ञ पूरा हो जाता है, और इसे से बड़ी आत्म-शक्ति बढ़ती है। एवं हमारा तो सब तरह भला ही भला होता है, पर तपना तो उस विचारे हिंसक को पड़ता है। पहिले वह अपनी क्रोधाग्नि में तपता है और पीछे उसे अपने हिंसापाप के प्रतिफल में आये दुःख की अग्नि में तपना पड़ता है।

शब्दार्थ—

(यः) जो (चकार) हिंसा करता है, (कर्तुं न शशाक) वह कर नहीं सकता, करने में अशक्त रहता है वह (पादं अंगुरिं) अपने पैर अंगुलि को, अपने ही अंग-अवयव को (शश्रे) तोड़ लेता है, हिंसित करता है। हमारी हिंसा करने वाला (अस्मभ्यं) हमारा तो (भद्रं) सदा भला ही (चकार)

करता है, (तु) किन्तु (सः) वह (आत्मने) अपना (तपनं) तपाना करता है, अपने को तपाता है।

१५ आश्विन

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥

अ. ४. १४. ४। य. १७. ६८।

विनय

हमारे सब यज्ञ 'विश्वतोधार' होने चाहियें। पर प्रायः हमारे यज्ञ एकतोधार होते हैं। इसका कारण यह है कि हम दूर तक देख कर, सब संसार को दृष्टि में रख कर लोकोपकार नहीं करते। अतः हमारे ये यज्ञकार्य परिमित, अदूरगामी और एकपक्षीय होते हैं। हम केवल एक अपने समाज, एक अपने कुटुम्ब, केवल एक संस्था या केवल एक अपने देश व राष्ट्र के हित के लिये अपने उपकार-कार्य करते हैं और उनके लिये बड़े-बड़े स्वार्थ-त्याग तक करते हैं। पर यह नहीं ध्यान रखते कि वह संस्थाहित, देशहित, राष्ट्रहित व संसार के हित के भी अविरुद्ध होना चाहिये। विश्वतोधार यज्ञ वह है जो कि 'सर्वभूत-हित'[1] के लिये होता है, जो सम्पूर्ण विश्व के भले के

---

१. गीता ५-२५, १२-४।

लिये प्राणिमात्र के हित की दृष्टि से होता है, अथवा यूं कहें कि जो परमात्मा के प्रीत्यर्थ होता है। वही यज्ञ पूरी तरह फैला वितत होता है, व्यापक होता है। वही यज्ञ 'विष्णु'[१] कहाता है। पर यज्ञ के इस 'विष्णु' 'विश्वतोधार' रूप को संसार में कुछ उत्तम ज्ञानी लोग ही समझते हैं और ये विरले ही उसे वितत करते हैं। अतः ये 'सुविद्वान्' तो शीघ्र ही पृथिवी और अन्तरिक्ष के स्थूल और मानसिक लोकों को लांघ कर आत्मा के सुखमय और प्रकाशमय लोक में चढ़ जाते हैं, आसानी से पहुँच जाते हैं। वे फिर उस आत्मिक सुख की तरफ़ जाते हुवे, उसका आनन्द लेते हुवे दुनियाँ की किसी भी अन्य वस्तु की परवाह नहीं करते। 'विश्वतोधार' यज्ञ करने वालों को यह 'स्वः' का एक ऐसा दृढ़ अवलंबन मिल जाता है कि वे फिर संसार के अन्य किसी सहारे की तनिक भी अपेक्षा नहीं करते। चाहे उनके साथी उनसे छिन जायें, उनका प्रभुत्व नष्ट हो जाये, उनकी सब प्रतिष्ठा जाती रहे, पर वे इन सहारों के रखने के लिये भी कभी अपने यज्ञ को थोड़ी देर के लिए भी छोटा, अव्यापक नहीं करते। वे अपनी दृष्टि को कभी नीचा या संकुचित नहीं करते। ऊपर चढ़ते जाते हुवे नीचे की इन क्षुद्र चीज़ों पर कभी उनकी दृष्टि ही नहीं पड़ती। यही रहस्य है जिससे कि वे ऊपर-ऊपर ही जाते हैं और शीघ्र सुखमय प्रकाशमय द्युलोक में जा पहुंचते हैं।

शब्दार्थ—

(ये) जो (सुविद्वांसः) उत्तम ज्ञानी महापुरुष (विश्व-

---

२. 'यज्ञो वै विष्णुः' शत. १-६। ३। ६ शत. ५। १। २। २३।

तोधारं यज्ञं) विश्वतोधार यज्ञ को, सब को सब तरफ से धारण करने वाले यज्ञ को (वितेनिरे) विस्तृत करते हैं वे (स्वः यन्तः) आनन्दमय स्थिति को जाते हुए, (न अपेक्षन्त) किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते, या नीचे नहीं देखते, (रोदसी) वे द्यावा-पृथिवी को लांघ (द्यां) द्युलोक में (आरोहन्ति) चढ़ जाते हैं।

१६ आश्विन

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
ऋ. ७. ५६. १२।

विनय

स्वाभाविक और उचित मृत्यु वह होती है जिस में शरीर इस तरह सहज में छुट जाता है जैसे कि पका हुआ फल डाल से टूट पड़ता है। हम चाहते हैं कि हमारी ऐसी ही मृत्यु हो। पूरा पका हुआ फल अपनी अधिक से अधिक पुष्टि को जो उसे उस वृक्ष से मिल सकती है पा चुका है, और पकने पर उस में एक मनोहर सुगन्ध आ जाती है। तब उस को वृक्ष से जबरदस्ती नहीं जुदा करना होता, वह स्वयमेव आराम से जुदा हो जाता है। हम चाहते हैं कि हमारी इस संसार से जुदाई—हमारी मृत्यु—इसी तरह आराम से स्वाभाविकतया हो। इस प्रयोजन के लिये हे भगवन्! हम

तुम्हारा यजन करते हैं। तुम्हारा यजन करने से हम इस संसार वृक्ष पर स्वाभाविकतया पकते जायेंगे। 'सुन्दर गन्ध-दाता' और 'पुष्टि के बढ़ाने वाले' के रूप में हे प्रभो! हम तुम्हारी उपासना करते हैं। तुम्हारी उपासना से जहाँ हम धीरे-धीरे परिपक्व हो जायेंगे हम में पूरी पुष्टि आ जायेगी, वहाँ हम में परिपक्वता की सुगन्ध व सुन्दरता भी आ जायेगी। आह, इस पकी अवस्था में शरीर को छोड़ना, संसार को छोड़ना, भयंकर व दुःखदायी होने की जगह कैसा स्वाभाविक और शान्तिदायक होगा! लोग मृत्यु से यूं ही डरते हैं। हे मृत्यु के स्वामी देव! ऐसे लोग तुम से भी डरते हैं, तुम्हारे रुद्ररूप से घबराते हैं। पर हे रुद्र! तुम तो त्र्यंबक हो, तीनों लोकों की आँख हो, तीनों अवस्थाओं के—उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के - अधिद्रष्टा हो। नहीं, यूं कहना चाहिये कि तुम तीनों लोकों की तीनों कालों में अम्बा हो, माता हो। तुम उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली हमारी माता हो। जो तुम्हारे केवल प्रलय व संहार रूप को ही देखते हैं वे ही तुम से, तुम्हारी मृत्यु से घबराते हैं। वे तुम्हारे पुष्टिवर्धक सुन्दर रूप को नहीं देखते, अतएव वे तुम्हारा यजन कर तुम से रस पाकर अपनी परिपक्वता नहीं कर पाते। इसी लिये उन्हें जबरदस्ती संसार से छुटने में—मृत्यु में—बड़ा क्लेश होता है। हे अम्बक! हे अम्बे! तुम तो संहार करती हुई भी हमारी माता हो। तुम जब इहलोक रूपी अपनी दायीं गोद से (मृत्यु द्वारा) हमें उठाती हो तो हम बच्चे बेशक रोने लगते हैं कि बस हम गये, हम मरे, पर तब हम नहीं जानते होते कि

तुम तुरंत ही परलोक की अपनी दूसरी गोद में बैठाने के लिये ही पहिली गोद से हमें उठाती हो। हम तुम्हारे नादान बच्चे तुम्हारी अमृतमय गोदों को भी नहीं पहिचानते। पर हे माता! तुम अब हमें ऐसा परिपक्व और सुगन्धियुक्त कर दो कि हम मरते हुये भी तुम्हारी इन अमृतमय गोदों से कभी जुदा न होवें। अब मृत्युभय से तो अवश्य हमारा छुटकारा करो, पर अपनी अमृत गोद से हमें कभी बिछुड़ने न दो। हे माँ! अपनी अमृतमय गोद से हमें कभी बिछुड़ने न दो।

शब्दार्थ—

(सुगन्धि) सुष्ठु गन्ध व सौन्दर्य वाले और (पुष्टिवर्धन) पुष्टि बढ़ाने वाले (त्र्यम्बकं) त्र्यम्बक देव का, संसार के तीनों लोकों की अधिद्रष्टारूप माता का (यजामहे) हम यजन करते हैं। (बन्धनात् उर्वारुकं इव) जैसे कि लताबंधन से डाली से पका हुआ कर्कटीफल स्वयमेव जुदा हो जाता है वैसे [मरते हुए] हम (मृत्योः) मृत्यु से, मृत्युभय से (मुक्षीय) मुक्त हो जायें, (अमृतात्) अमृत से (मा) कभी नहीं।

•

१७ आश्विन

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

यजु. १९. ७७।

विनय

इस संसार में सब जगह सच और झूठ इतने मिले हुए दिखाई देते हैं कि इन में फ़र्क करना असम्भव सा हो जाता है। हर एक सत्य के साथ झूठ ऐसी सूक्ष्मता के साथ लगा हुआ है, और हर एक झूठ के मूल में सत्य ऐसी गुप्तता से समाया हुआ है कि सच और झूठ का पृथक्करण करने में बड़े-बड़े तत्ववेत्ता भी हार मानते हैं। पर सत्य और अनृत तो एक दूसरे से बिलकुल ही उल्टी चीज़ें हैं। ये एक जगह कैसे रह सकती हैं? फिर भी जो हम इन दोनों स्वभावतः विरोधी वस्तुओं का विवेक नहीं कर पाते हैं इस का कारण यह है कि हम स्वाभाविकता से हट गये हैं, हम अस्वाभाविक बन कर प्रजापति से दूर हो गये हैं। हम सब प्रजाओं को उत्पन्न करने वाले, सब संसार के स्वामी, प्रजापति ने तो संसार के सब सत्य और अनृत रूप को साक्षात् जुदा-जुदा देखा है और स्पष्ट जुदा-जुदा कर रक्खा है। इन दोनों रूपों की पृथक्ता के आधार पर ही बनाये अपने नियमों द्वारा वह इस जगत् का और अपनी सब प्रजाओं का शासन कर रहा है और पति हो रहा है। तो क्या इन जगत्-शासक नियमों को हम प्रजाओं के लिये बिना बताये ही वह इन द्वारा हम पर शासन कर रहा है? नहीं उस ने तो जहां बाहर जगत् में सत्य और अनृत का विवेक किया है और उस के अनुसार जगत् को संचालित कर रहा है, वहां उस ने हमारे अन्दर में भी वह साधन रक्खा है जिस से कि हम प्रजा लोग सत्य और अनृत का स्पष्ट भेद कर सकें। उस ने हमारे अन्तःकरण में अनृत के लिये अश्रद्धा और सत्य के लिये श्रद्धा

स्वभावतः उत्पन्न कर रखी है। वे प्रजापति हम में से प्रत्येक प्रजा के हृदय में स्वयं आ बैठे हैं, और प्रत्येक सत्य में श्रद्धा को उपजाते तथा प्रत्येक असत्य में अश्रद्धा को उद्भूत करते हुए बैठे हुए हैं। फिर भी यदि हम सत्य और अनृत का विवेक न कर सकें तो हम कितने अभागे हैं। सचमुच सत्यासत्य का विवेक जहाँ महाकठिन है, वहां अत्यन्त सहज भी है। जो मलिन हृदय वाले पुरुष प्रजापति से दूर हो कर केवल तर्कना द्वारा सत्य और असत्य का भेद जानना चाहते हैं उन के लिये यह निःसन्देह महाकठिन है, किन्तु जो प्रजापति की शरण में पड़े हुये हैं और जो अपने शुद्ध अन्तःकरण में उस की दी हुई श्रद्धा और अश्रद्धा की पक्की कसौटी के रखने वाले हैं उन भक्त पुरुषों के लिये यह अत्यन्त सहज है।

भाइयो ! ज़रा अन्दर टटोलो, देखो; प्रजापति ने तो हम सब के अन्दर अनृत के लिये अश्रद्धा और सत्य के लिये श्रद्धा पैदा की हुई है।

शब्दार्थ—

(प्रजापतिः) प्रजापति ने (दृष्ट्वा) देख कर (रूपे) सब रूप को दो विभागों में (सत्यानृते) सत्य और अनृत, सच्चा और झूठा इन दो विभागों में (व्याकरोत्) स्पष्ट जुदा-जुदा कर दिया है। (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) अनृत में, झूठ में (अश्रद्धां) अश्रद्धा को (दधात्) रक्खा है और (सत्ये) सत्य में, सच्चाई में (श्रद्धां) श्रद्धा को रक्खा है।

१८ आश्विन

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
ऋ. १०. १९१. २।

विनय

हे मनुष्यो! सदा मिल कर चलो, मिल कर आचरण करो; मिल कर बोलो; और तुम्हारे मन मिल कर सदा एक निश्चय किया करें। यह दैवी नियम है। देव लोग सदा 'संजानानाः' हो कर—समान मन और ज्ञान वाले हो कर—ही अपने कार्य-भाग को निबाहते आये हैं। असल में यह मनों द्वारा ज्ञान की एकता ही वास्तविक एकता है। मन की एकता होने पर वचन और कर्म (आचरण) की एकता होने में कुछ देर नहीं लगती। देखो, ये देव लोग सब जगह 'संजानानाः' हो कर ही कार्य कर रहे हैं। आधिदैविक जगत् में देखो, अग्नि, वायु आदि देव जगत्-सञ्चालन के लिये एक-ज्ञान, समान-मन हो कर अपने-अपने भाग को ठीक-ठीक कर रहे हैं। अध्यात्म में प्राण, इन्द्रिय आदि देवों को देखो कि ये कैसे संगठित हो कर जीवन को चला रहे हैं? पैर में काँटा चुभता है तो त्वचा, प्राण, मन, हाथ आदि सब देव एक क्षण में कैसा सहयोग दिखाते हैं? और आधिभौतिक में भी सब ज्ञानी देव-पुरुष पुराने काल से लेकर आज तक संगठित हो कर ही बड़ी से

बड़ी सफलतायें प्राप्त करते रहे हैं। मिलना दैवी प्रवृत्ति है। क्षुद्र स्वार्थों को न छोड़ सकना और न मिलना आसुरी है। अतः हे मनुष्यो! तुम मिलो, अपने सैंकड़ों क्षुद्र स्वार्थों को छोड़ कर एक बड़े समष्टि-स्वार्थ के लिए सदा मिलो। लाखों करोड़ों के मिल कर काम करने से जो तुम्हें बड़ी भारी सामूहिक सिद्धि मिलेगी उसे फलतः तुम लाखों करोड़ों में से प्रत्येक व्यक्ति के भी सब सच्चे स्वार्थ अवश्य सिद्ध होवेंगे। मिलने में बड़ी भारी शक्ति है। तुम मिल कर के चलो, मिल कर के करो तो कौन सा कार्य असाध्य है। तुम मिल कर बोलो तो संसार को हिला दो। और मिल कर के ध्यान करने में तो अपार-अपार शक्ति है। अतः हे मनुष्यो! मिलो, मिलो, सब प्रकार मिल कर अपने सब अभीष्ट सिद्ध करो।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो! (संगच्छध्वं) मिल कर चलो, आचरण करो (संवदध्वं) मिल कर बोलो, और (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (संजानतां) मिल कर के ज्ञान प्राप्त करें, समान ज्ञान वाले होवें; (यथा) जैसे कि (पूर्वे देवाः) पहले से देव लोग (संजनानाः) मिल कर जानते हुये, एक-ज्ञान होते हुये (भागं) भजनीय वस्तु की, अपने भाग की (उपासते) उपासना करते, उपलब्धि करते रहे हैं।

१६ आश्विन

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम् ।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥

अ. ६. १८. १।

विनय

बड़ा आश्चर्य है कि मनुष्य दूसरे की बढ़ती को सह नहीं सकता। इसकी जगह कि वह अपने साथी की बढ़ती को देख कर प्रसन्न होवे, प्रेमयुक्त होवे, वह उसके प्रति ईर्ष्यालु हो जाता है। यह ईर्ष्या बड़ी बुरी चीज़ है। जब किसी मनुष्य के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि जल उठती है तो यह उसे बुरी तरह संतप्त करती है। इतना ही नहीं, किन्तु ईर्ष्या की अग्नि के बढ़ जाने पर कई बड़े अच्छे-अच्छे कुल राख हो चुके हैं, कई प्रगतिशील समाजें लड़ाई-झगड़े में पड़ पंगु बन चुकी हैं। कई संग्राम छिड़ चुके हैं जिनमें हज़ारों लाखों लोग नाहक में तबाह हो गये हैं। इसलिये ईर्ष्याग्नि को बढ़ने न देना चाहिये। जब ईर्ष्या की पहली ही ज्वाला चमके तभी उसे बुझा देना चाहिये। ईर्ष्या के प्रथम वेग को ही रोक देना चाहिये। सोचना चाहिये 'यदि मेरे अमुक साथी को संपत्ति मिली है, उसे प्यार किया जाता है, या उसे प्रतिष्ठा व उच्चपद मिलता है, तो इस से मुझे क्यों कुढ़ना चाहिये, मुझे क्यों न प्रसन्न होना चाहिये। यदि मैं उतना योग्य नहीं हूँ, तो धैर्यपूर्वक मुझे भी वैसा गुणी बनने का यत्न करना चाहिये। मुफ्त में अपने को जलाना तो कभी नहीं

चाहिये'। और बार-बार 'मैत्रीभावना' कर-कर के उस अपने सौभाग्यशाली साथी से अपने को पूरी तरह जोड़ लेना चाहिये, एक कर लेना चाहिये। अन्त में उस से इतने अभिन्नात्मा बन जाना चाहिये कि उस की बढ़ती का स्मरण आने पर अपना आत्मा उतना ही आनन्दित होने लगे जितना उस स्मरण से उस अपने साथी का आत्मा होता है। तब समझना चाहिये कि मैत्रीभावना पूर्णावस्था में पहुँच गयी है। यह अवस्था पहुँचने पर सब ईर्ष्याग्नि अवश्य बुझ जायगी और उसकी जगह प्रेमधारा बह निकलेगी।

पर इतने से निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये, क्योंकि आग बुझ-बुझ कर भी फिर-फिर बिना जाने जल पड़ा करती है। असावधानी के क्षणों में यदि फिर ईर्ष्याग्नि चुपके से सुलगने लगे तो फिर ऐसे विचार और भावना की जलधारा से इसे फिर शान्त कर देना चाहिये। यह निश्चित है कि उसका यह दूसरा वेग मन्द होगा। इसी तरह आगे भी करते जाना चाहिये जब तक कि यह हृदय की अग्नि और इसका शोकसंताप बिलकुल न बुझ जायें और इसकी जगह प्रेम की शीतलता और आत्मैक्य की जलधारा न बहने लगे।

हे ईर्ष्यासंतप्त पुरुष! हम तेरी ईर्ष्याग्नि को प्रेमधारा द्वारा सर्वथा बुझा देते हैं।

शब्दार्थ—

(ईर्ष्यायाः) ईर्ष्या की (प्रथमां) पहिली ही (ध्राजिं) वेगवती गति को, ज्वाला को (निर्वापयामसि) हम बुझाते हैं

(उत) और (प्रथमस्याः अपरां) इस पहिली से अगली ज्वाला को भी बुझाते हैं, इस तरह हे मनुष्य! (ते) तेरी (तं) उस ईर्ष्यारूपी (हृदय्यं अग्निं) हृदय में जलने वाली अग्नि को (शोकं) तथा उसके शोक संताप को (निर्वापयामसि) बिलकुल शान्त कर देते हैं।

२० आश्विन

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुंचतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥

अ. ५. ११४. २।

विनय

हे आदित्यो! तुम मेरे बन्धन खोल दो। मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, कर सकना चाहता हूँ; किन्तु कर नहीं सकता। मैं चाहता हूं अब मैं अमुक स्वार्थत्याग अवश्य कर दूं, पर इसे कर नहीं सकता। मैं स्पष्ट देखता हूँ कि मुझे राष्ट्रयज्ञ में, सेवायज्ञ में या धर्मयज्ञ में अपनी आहुति अवश्य दे देनी चाहिये, इसका अनिवार्य समय आ पहुंचा है, पर फिर भी मैं न जाने क्यों इस आहुति को दे नहीं सकता। दिल से चाहता हुआ भी कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। मन उठता है, पर हाथ पैर नहीं उठते, मानो हाथों पैरों को किसी ने बाँध रक्खा है। हे देवो! तुम मुझे मेरी इस वृद्ध अवस्था से

मुक्त करो। तुम मेरे उस बन्धन को खोल दो जिस के मारे मैं हृदय से यज्ञकर्म कर सकना चाहता हुआ भी इस के करने में असमर्थ रहता हूँ। इस का उपाय मैं एक ही जानता हूँ। वह यह है कि तुम, हे यजनीयो! यज्ञवाहक आदित्यो! मुझ में उस देव को जगा दो जो कि 'ऋत' का 'ऋत' है, जो कि यज्ञों का भी यज्ञ है, जो कि सब सत्यों का एक सत्य है। उस परम यज्ञ सत्यस्वरूप का ध्यान करते ही मेरा यह बन्धन स्वयमेव खुल जायगा। केवल उस प्रभु के एक वार ध्यान में समा जाने की देरी है। ओह! उस परम यज्ञ-पुरुष का ध्यान आ जाने पर जिस ने कि अपने इस ऐश्वर्यमय विश्व-ब्रह्माण्ड को समस्त जीवों के भोग के लिये त्याग रक्खा है, यज्ञ कर रक्खा है, उस सत्य स्वरूप प्रभु के क्षण भर के लिये दृष्टिगोचर हो जाने पर जो कि एकमात्र इस संसार में सत्यवस्तु है और जिस के सिवाय शेष सब कुछ मिट जाने वाला है, उस का ध्यान आ जाने पर मेरे लिये बड़े से बड़ा त्याग करना, किसी यज्ञ के लिये अपने प्राण तक दे देना, परम तुच्छ साधारण सी बात लगने लगती है। इसलिये हे आदित्यो! हे मेरी उच्च दिव्य प्रकाशमय वृत्तियो! जब-जब मैं यज्ञ करने में अशक्त रहूँ तब-तब तुम मुझे उस प्रभु को दिखला दिया करो, उस का ध्यान करा दिया करो। उस 'ऋतस्य ऋत' का ध्यान आ जाने पर यज्ञ कर सकने से रोकने वाली मेरी सब रुकावटें निश्चय से हट जायेंगी, रोकने वाले सब बन्धन खुल जायेंगे। इस तरह, यज्ञवाहक आदित्यो! तुम उस ऋत के ऋत द्वारा अब मेरा यज्ञरोधक बन्धन सदा के लिये खोल दो।

शब्दार्थ—

(यजत्राः) हे यजनीय (आदित्याः) आदित्यो ! प्रकाशमय देवो ! (इह) इस लोक में (नः) हमें (ऋतस्य ऋतेन) यज्ञ के भी यज्ञ, सत्य के सत्य परमेश्वर द्वारा (मुंचत) उस बन्धन से मुक्त कर दो (यद्) जिस के कि कारण (यज्ञवाहसः) हे यज्ञवाहक देवो ! हम (यज्ञे) यज्ञ को (शिक्षन्तः) करना चाहते हुये भी (न उपशेकिम) कर नहीं सकते हैं ।

२१ आश्विन

यदि जाग्रद् यदि स्वपन् एन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुंचताम् ॥

अ. ६. ११५. २।

विनय

हे भूत और भव्य ! तुम मुझे सदैव पाप से मुक्त करो। मैं जागते हुये या सोते हुये जो पाप करता हूँ, पापी बनता हूँ, उस से मुक्त करो । जागृतावस्था में इस स्थूल वैश्वानर लोक में ठहरता हुआ मैं जो स्थूल पाप करता हूँ, अथवा स्वप्नावस्था में सूक्ष्म तैजस लोक में रहता हुआ जो सूक्ष्म मानसिक पाप करता हूं, उस से मैं बंध जाता हूं । जैसे कि द्रुपद में, पाद-बन्धन में, पड़ जाने से मनुष्य के पैर ऐसे जकड़ जाते हैं कि वे आगे हिल नहीं सकते, इसी तरह सूक्ष्म या स्थूल पाप कर लेने पर हमारे

उन्नति के पग ऐसे रुक जाते हैं कि जब तक हमारी उस से मुक्ति न हो जाय तब तक हम आगे नहीं बढ़ सकते, उन्नत नहीं हो सकते। इस से छुटकारा पाने के लिये मैं अपने भूत और भव्य से प्रार्थना करता हूँ। मेरा भूत, अपने भूत का आत्म-निरीक्षण तथा मेरा भव्य, अपने भव्य के लिये दृढ़ निश्चय, ये दोनों मुझे पाप-बन्धन से छुड़ा देवें। पाप हो जाने पर जब तक कि हम भूत के पश्चात्ताप और भविष्य के लिये दृढ़ निश्चय न कर लेवें तब तक हम उस से मुक्त नहीं हो सकते और आगे नहीं बढ़ सकते। ओह, मेरा अनादि काल से आने वाला विशाल भूत और अनन्त काल तक पहुंचने वाला विशाल भव्य, इन दोनों के अपार काल-समुद्र में मैं अपनी चिन्तन रूपी डुबकी लगा कर अपने सब पाप मैल को धो डालूंगा। मैं इस भूत के लोक, स्थूललोक, के पूरे-पूरे निरीक्षण द्वारा अपने आप को इतना कार्यदक्ष, सावधान और सदा जागृत बनाऊँगा कि आगे से जाग्रत् के स्थूल-पापों से सदा बचता रहूँगा तथा भव्य के दूसरे सूक्ष्मलोक की सहायता से इतनी मानसिक दक्षता प्राप्त कर लूंगा कि मुझ से असावधानी में, बिना जाने स्वप्नावस्था में होने वाले मानसिक पाप भी आगे से न हो सकेंगे। एवं यह भारी साधना कर लेने पर मेरे भूत और भव्य मुझे क्रमशः जाग्रत् और स्वप्नावस्था के पाप-बन्धनों से मुक्त करते रहेंगे, सदा मुक्त करते रहेंगे।

शब्दार्थ—

(यदि) यदि (जाग्रत्) जागते हुए (यदि स्वपन्) यदि सोते हुए (एनस्यः) मैं पापी बन (एनः) पाप (अकरं)

करता हूँ तो (तस्मात्) उस पाप से (मा) मुझे (भूतं भव्यं च) भूत और भव्य, भूत और भविष्य का चिन्तन (द्रुपदात् इव) जैसे काठ से, पादबन्धन से छुड़ाया जाता है उस तरह (मुंचताम्) छुड़ा देवें, मुक्त कर देवें।

२२ आश्विन

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः॥

अ. ७. १००. १।

विनय

ज्ञान का दिव्य सूर्य उदय हो चुका है। इस लिये मेरी चिरातन अज्ञान की रात्रि बीत गई है और मैं महानिद्रा से जाग उठा हूँ। अब तक मैं बहुत सोया, बहुत सोया और निद्रा में न जाने कैसे-कैसे पाप के भयंकर-भयंकर दुःस्वप्न देखता रहा और अकल्याण व अनिष्ट के दुःखदायी स्वप्न देखता रहा। पर अब ये सब समाप्त हो गये हैं। अज्ञानावस्था में ये ही सब पाप-दुःख अनिष्ट थे, अतः अब निद्रा के साथ वे सब समाप्त हो गये हैं। मैंने सदा के लिये अब इन पाप, ताप, भय, संकट और दुःख-दारिद्र्य से मुख मोड़ लिया है। मैंने ब्रह्म को, महान् ज्ञान को, आत्मज्ञान को अपने अन्दर कर लिया है, और उन स्वप्नों से आने वाले सब दुःखों, शोकों तथा पीड़ाओं को

बाहर कर दिया है, हटा दिया है। ओह, सचमुच सब 'पाप' दुःस्वप्न ही था सब 'अभूति' स्वप्नमात्र थी। ये नींद के साथ ख़तम हो चुके हैं। अपने शोकों, क्लेशों, दुःखों सहित ख़तम हो चुके हैं। मैं अब जाग गया हूँ, जाग गया हूँ।

शब्दार्थ—

(दुष्वप्न्यात्) दुःखदायी स्वप्न में होने वाले (पापात्) पाप से और (स्वप्न्यात् अभूत्याः) स्वप्न में होने वाले अकल्याण से [अकल्याण के पाप से] (पर्यावर्त्ते) मैं लौटता हूँ, मुंह मोड़ता हूं। (अहं) मैं (ब्रह्म) महान् ज्ञान को, आत्म-ज्ञान को (अन्तरं) अपने अन्दर (कृण्वे) करता हूँ, और (स्वप्नमुखाः) स्वप्न से आने वाले इन (शुचः) शोकों को, दुःखों को (परा) [कृण्वे] दूर करता हूँ।

२३ आश्विन

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥

अ. ७. १०५. १।

विनय

हे मनुष्य! तू पौरुषेय बातों को छोड़ कर सदा ईश्वरीय वचन को स्वीकार कर। सब बातों में पौरुषेय, मनुष्यकृत, भाग को छोड़ कर सदा उस के सारमय सत्य दैव्य भाग का वरण

कर। यही नीति है जिस के अनुसार तुझे अपने जीवन को तथा अपने साथियों के जीवन को चलाना चाहिये। यदि तू उच्च-ज्ञान पाना चाहता है, सच्ची शिक्षा से शिक्षित होना चाहता है तो तू साधारण पुरुषों की स्तुति-निन्दा की कथाओं से, अखबारी दुनियाँ की उत्तेजनाभरी सामयिक अस्थायी और भ्रान्तिपूर्ण चर्चाओं से, मनुष्यों के रागद्वेष से रंजित अत्युक्ति-हीनोक्तिपूर्ण भाषणों से दूर रहता हुआ, हटता हुआ, बचता हुआ सदा सब जगह मूलभूत ईश्वरीय नियम को, उस के सत्य सिद्धान्त को ही देखने-ढूंढने का अभ्यास करता-हुआ चल। यदि तू ऐसा करेगा तो तू इन सब जगह वेद को पढ़ेगा, ईश्वरीय वाणी को प्राप्त करेगा। इस प्रकार सदा सच्ची दैवी प्रकृष्ट नीतियों को, उत्तम शिक्षाओं को, सन्मार्गों को प्राप्त करता हुआ तू उसी के अनुसार सब तरह से अपना वर्त्तन कर, व्यवहार कर, अपने सब साथी-संगी, मित्र, शिष्य, अनुयायिओं सहित उन्हीं के अनुसार आचरण कर, उन्हीं प्रणीतियों का अनुसरण कर। इसी तरह तू अपने मनुष्यत्व को फलीभूत कर सकेगा।

शब्दार्थ—

हे मनुष्य! (पौरुषेयात्) पुरुषों की, मनुष्यकृत [बातों से] (अपक्रामन्) हटता हुआ (दैव्यं) देवसम्बन्धी, ईश्वरीय (वचः) वचन को (वृणानः) श्रेष्ठ मान कर स्वीकार करता हुआ तू (प्रणीतीः) इन दैवी प्रकृष्ट नीतियों का, सुशिक्षाओं का (विश्वेभिः सखिभिः सह) अपने सब साथी मित्रों सहित (अभि आ वर्त्तस्व) सब तरह से आचरण कर।

●

२४ आश्विन

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम् ॥
ऋ. १. ११. २।

विनय

हे परम ईश्वर! तुम्हें अपना सखा जान कर अब संसार में और किसी से क्या डरना है। सब बल के स्वामी 'शवसस्पति' तो तुम हो, तुम से बल ज्ञान पाकर 'वाजी' हो कर कैसा डरना? तुम्हारा सहारा पकड़ कर अब कैसा भय? अदूर भविष्य चाहे कितना अन्धकारमय दीख रहा हो, सामने चाहे कितना विकट संकट आता दीखता हो फिर भी हम निर्भय हैं, क्यों कि हम जानते हैं कि इस सब को यदि तुम चाहो तो एक क्षण में तार सकते हो। जब तुम से नाता जोड़ लिया, जब तुम्हारी राह में चल पड़े, तो दुःख-पीड़ा, अर्थ-नाश, सम्बन्धियों का वियोग, जग हंसाई आदि के सह लेने में क्या पड़ा है? तुझ महाबली का नाम लेते हुये हम भारी से भारी अत्याचारों को हंसते-हंसते सहते जाते हैं। तुम्हारे प्यारे सच्चे मार्ग पर चलते हुये एक बार नहीं लाख बार यदि मौत आवे तो हम उसे भी आनन्दमग्न हो कर स्वीकार करते जाते हैं। इन में भय की क्या बात है? सचमुच, हे इन्द्र! तेरे सख्य को पाकर हम निर्भय हो गये हैं, दुर्लभ 'अभय' पद को पा गये हैं, अभय बन गये हैं। पर इस उच्च अभय अवस्था

को प्राप्त हो कर भी, हे मेरे स्वामी! हम कभी मन में अभिमान को कैसे ला सकते हैं? क्या हम नहीं जानते कि संसार की सब विजयें तुम्हारे बल द्वारा ही प्राप्त हो रही हैं, तुम ही संसार में एकमात्र जेता हो, विजयी होने वाले हो? तुम्हें, तुम्हारी शक्ति को, संसार में और कोई नहीं पराजित कर सकता। यह अनुभव करते हुए, हे मेरे सखा! ज्यों-ज्यों हम में तुम्हें पाकर आत्मभिमान बढ़ता गया है, त्यों-त्यों हम में तुम्हारे प्रति नम्रता भी बढ़ती गई है। ज्यों-ज्यों तुम्हारी कृपा से हम में अभयता आती गई है त्यों-त्यों तुम्हारे चरणों में भक्ति भी बढ़ती गई है। इसलिये, हे हमें अभयपद प्रदान करने वाले प्रभो! हम तुम्हें प्रणाम करते हैं। हे जेतः! हे अपराजित! हम तुम्हारे स्तुति गान करते हैं। तुम्हारा नित्य निरन्तर गुणकीर्त्तन करते हैं। ओह! तुम्हारा गुणकीर्त्तन करते हुए हम कभी नहीं थकते, हम कभी नहीं थकते।

शब्दार्थ—

(शवसस्पते) हे बल के स्वामी! (इन्द्र) परमेश्वर! (ते) तेरी (सख्ये) मित्रता में आकर (वाजिनः) बल ज्ञान से युक्त हुए हम (मा भेम) अब भयभीत न होवें, निर्भय हो जावें। (जेतारं) सदा जीतने वाले (अपराजितं) कभी भी पराजित न हो सकने वाले (त्वा) तेरे (अभि प्रणोनुमः) हम बार-बार सर्व प्रकार का स्तुति गान करते हैं।

●

२५ आश्विन

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ।।

अ. ७. ११५. ४ ।

विनय

मेरे घर में सैंकड़ों प्रकार की लक्ष्मी, ऐश्वर्य की वस्तुएँ रखी हुई हैं । किन्तु जब से मुझे ज्ञान हुआ है कि मुझे पाप की कमाई का परित्याग कर देना चाहिये और ऐसी पापलक्ष्मी का सेवन मेरा विनाश कर देगा, तब से मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं अब पापलक्ष्मी को घर में नहीं रखूंगा । इस प्रयोजन के लिये आज मैं अपनी एक-एक वस्तु का निरीक्षण करने लगा हूँ । जैसे कि गोपाल व्रज में इकट्ठी हुई गौओं को पृथक्-पृथक् पहचानता है कि ये अपने घर की गौएँ हैं और ये नहीं, उसी तरह मैं अपने सब सामान को—पुस्तक, पलंग, कुर्सी, सन्दूक, कीमती वस्त्र, वहां का रुपया, उधर से आया ज़ेवर, कोठी, खेत, जायदाद आदि एक-एक वस्तु को—जुदा-जुदा विभक्त कर रहा हूँ कि ये-ये बिलकुल उचित कमाई की वस्तुयें तो ठीक हैं, किन्तु यह रिश्वत में आयी वस्तु, यह छल कपट से पायी जायदाद, दुर्बल को सता कर मिला हुआ यह धन, ग़रीबों के पेट काट कर बने ये बहुमूल्य कपड़े, इन सब को मैं आज विनष्ट कर दूंगा । इन्हें मैं अपने पास नहीं रख सकता ।

जन्म से ही सैंकड़ों प्रकार की दैवी या आसुरी संपदों

को साथ लेकर आया हूँ, पैदा हुआ हूँ। किन्तु आज मैं उनका विवेकपूर्ण पृथक्करण करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। जो मेरे हृदय में 'अभय', सत्वसंशुद्धि, ज्ञान, योगस्थिति आदि दैवी संपद् हैं, पुण्यलक्ष्मी हैं उन्हें तो मैं कहता हूँ कि 'तुम मुझ में रमण करो, आनन्दपूर्वक रहो'। किन्तु जो दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य अज्ञान आदि आसुरी संपद् हैं, पापलक्ष्मी हैं उन्हें अपने हृदय-मन्दिर में से निकल जाने को कहता हूँ, उन्हें मैं अब अपने मनोराज्य में नहीं रहने दूंगा।

शब्दार्थ—

(एताः) इन (एनाः) उन [अपने घर या जीवन में रखी हुई सैंकड़ों प्रकार की] लक्ष्मिओं का (व्याकरं) मैं विवेकपूर्वक पृथक्करण करता हूँ, (खिले विष्ठिता गाः इव) जैसे कि व्रज में विविध प्रकार की आ बैठी हुई गौओं का गोपाल किया करता है। अब (याः पुण्याः लक्ष्मीः) जो पुण्या लक्ष्मी हैं, पुण्य कमाई के ऐश्वर्य हैं (रमन्तां) वे मेरे यहाँ रमण करें, आनन्द से रहें, पर (याः पापीः) जो पाप कमाई की लक्ष्मी हैं (ताः) उन्हें मैं आज (अनीनशम्) विनष्ट किये देता हूँ।

•

२६ आश्विन

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिंचत् हिरण्यं लोके अन्तरा॥

अ. १०. ७. २८।

विनय

इस विश्व का मूल खोजते हुए हम मनुष्य प्रायः हिरण्य-गर्भ तक ही पहुँचते हैं। सब शास्त्रों में इसे जगत् का वह हिरण्यमय (चमकता हुआ) गर्भ माना है जिस से कि इस सब जगत् की उत्पत्ति हुई है। वैज्ञानिक लोग भी इस सब सौरमण्डल की उत्पत्ति एक ऐसे ही हिरण्यमय महातेजःपिण्ड से कहते हैं जिस से कि कालान्तर में जुदा हुए और ठण्डे हुए ये हमारे पृथिवी आदि सब ग्रह आज अपने अवशिष्ट सूर्य के चारों तरफ घूम रहे हैं। परन्तु क्या इस हिरण्यगर्भ से भी परम अन्य किसी तत्त्व को नहीं बताया जा सकता ? एवं वैय-क्तिक जीवन के मूल में भी हम वीर्य (हिरण्य) को, वीर्य के अणु को, ही जानते हैं। पर वीर्य के अणु में भी यह जीवन पैदा करने की शक्ति क्यों कर है यह हम नहीं जानते। प्रारम्भ प्रारम्भ में इस वीर्यअणु को किसने उत्पन्न किया, इस विश्व के प्रारम्भ में तैजस सूक्ष्मलोक में उस हिरण्यगर्भ को किसने प्रकट किया ? इसका उत्तर हम नहीं जानते। यह संसार बेशक सत्व, रज, तम का (Mind, Motion, Matter का) खेल है। तम से परे रज है और रज से परे सत्व है। पर क्या सत्व (Mind) का अतिक्रमण कर के कही जा सकने वाली, इस से परली और कोई संसार में शक्ति नहीं है ? वह सत्य का हिरण्य भी जिस के आधार से चमकता है, हे मनुष्यो ! उस 'स्कंभ' देव को तुम जानो। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में जो हिरण्यगर्भ को भी प्रादुर्भाव करता है और जो संसार की जीवन-प्रक्रिया को चलता कर देता है उस स्कंभदेव को तुम जानो।

इस ब्रह्माण्ड-शरीर की नस-नस में जो दिव्य वीर्य (हिरण्य) इसे जीवन देता हुआ सदा वह रहा है वह उस स्कंभ का ही सींचा हुआ है, इस ब्रह्माण्ड में जो भी कुछ जीवन चैतन्य प्राण दिव्यत्व, प्रकाश, चमक आदि दीख रहा है यह सब हिरण्य उसी स्कंभ से आया हुआ है। अतः हे मनुष्यो! तुम उस जगदाधार स्कंभ को ही परम और अनत्युद्य वस्तु समझो; अन्य किसी को नहीं।

शब्दार्थ—

(जनाः) लोग (हिरण्यगर्भं) हिरण्यगर्भ को (परमं) सब से परली और (अन्-अति-उद्यं) जिस से अतिक्रमण कर परे कुछ न कहा जा सके ऐसी वस्तु (विदुः) समझते हैं। परन्तु (तत् हिरण्यं) उस हिरण्य को, तेजोमय वीर्य को तो (अग्रे) प्रारम्भ में (लोके अन्तरा) हम संसार के अन्दर (स्कंभः) जगदाधार परमेश्वर ने (प्रासिंचत्) सिंचन किया है।

●

२७ आश्विन

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्ती नेलयन्ति कदाचन॥

अ. १०. ७. ३७।

विनय

यह वायु क्यों सदा गति कर रहा है, क्यों कहीं ठहर

नहीं जाता ? यह मन क्यों कहीं रत नहीं हो जाता, क्यों किसी आनन्द को पाकर ठहर नहीं जाता ? ये नदियां, ये प्रजायें, ये जीव, जीवों के ये कर्मप्रवाह क्यों कभी नहीं ठहर सकते ? क्यों सदा चल रहे हैं ?

ये सब किसे प्राप्त करना चाहते हुए चलते चले जा रहे हैं ? यह वायु, यह प्राण कहां पहुंचने के लिये सदा चल रहा है ? यह मन किस प्यारे को पाना चाहता हुआ और उसे कहीं न पा सकता हुआ प्रतिक्षण चंचल है ? ये सब प्रजायें, ये सब प्राणी दिन-रात कुछ न कुछ करते जाते हुए किसे प्राप्त करना चाहते हैं।

क्या ये सब सत्य को पाना चाहते हुये नहीं चल रहे हैं ? ओह, सचमुच उस परम सत्य को पाने के लिये ही प्राण निरन्तर फिर रहा है, मन सदा भटक रहा है और सब प्राणियों का प्रतिक्षण का कर्मप्रवाह चल रहा है। और निःसंदेह कभी, किसी काल में उस परम प्यारे 'सत्य' को पा लेने पर ही यह हमारा प्राण चैन पायेगा, मन निरुद्ध हो जावेगा, हमारी सब की चेष्टायें सर्वथा बन्द हो जायेंगी और हम उस प्रेप्सित परम आनन्द में समाधिस्थ हो जायेंगे। पर उसे बिना पाये कहीं विश्राम नहीं है, हे भाइयो ! कहीं विश्राम नहीं है।

शब्दार्थ—

(वातः) वायु, प्राण (कथं) क्यों (न इलयति) नहीं ठहरता ? (मनः) मन (कथं) क्यों (न रमते) कहीं नहीं रमता ? (किं) क्या (सत्यं प्रेप्सन्तीः) सत्य स्वरूप को प्राप्त करना चाहती हुई ही (आपः) प्रजायें, जीव, जीवों के कर्म-

प्रवाह (कदाचन) कभी भी (न इलयन्ति) नहीं ठहरते हैं, सदा चल रहे हैं !

•

२८ आश्विन

अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं, न ममार न जीर्यति॥

अ. १०. ८. ३२।

विनय

मनुष्य परमेश्वर को कभी त्याग नहीं सकता, कभी उस से जुदा नहीं हो सकता। क्योंकि यह परमेश्वर के इतना संनिकृष्ट है, इतना घनिष्ट सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है कि परमात्मा उस की आत्मा की आत्मा है। पर आश्चर्य है कि इतने निकट होता हुआ भी वह अपने परमात्मा को देखता नहीं है। अथवा इस में आश्चर्य करने की क्या बात है, वह इतना अत्यन्त निकट है इसीलिये उसे वह नहीं देख सकता है। आँख अपनी पुतली को कैसे देख सकती है? तो अपने को शक्ति देने वाले परमात्मा को आत्मा कैसे देखे? इसी लिये हे मनुष्य! यदि तू अपने परमात्मा को आँखों से ही देखना चाहता है तो तू उस के काव्य को देख। गुणों के देखने से ही गुणी देखा जाता है। तू उस के इस दृश्य महाकाव्य में उस के दर्शन कर। देख, उस का यह दृश्य काव्य हर समय चल रहा है, खेला जा रहा है। इस दृश्य काव्य का पुस्तक वेद है, पर उस का

अभिनय यह सब चलता हुआ दृश्यमान संसार है। मनुष्यकृत नाटक तो एक दो वार देख लिये जाने पर पुराना हो जाता है और वह ख़तम तो हो ही जाता है। परन्तु यह ईश्वरीय काव्य न तो कभी ख़तम होता है और न कभी पुराना होता है, न कभी मरता है और न कभी जीर्ण होता है। क्योंकि इस का रचयिता ही कभी न मरने वाला है, और न कभी बुड्ढा होने वाला है। उस से निरन्तर हर समय नित्य नया निकलता हुआ यह काव्य सदा चल रहा है। हे मनुष्य ! तू सदा इस को देखता हुआ इसी में अपने परमात्मदेव का हर घड़ी और हर पल दर्शन किया कर।

शब्दार्थ—

मनुष्य (अन्ति सन्तं) सदा समीप ही विद्यमान [परमात्मदेव] को (न जहाति) कभी त्यागता नहीं, जुदा नहीं होता और (अन्ति सन्तं) समीप ही विद्यमान उसे (न पश्यति) देखता भी नहीं। हे मनुष्य ! तू (देवस्य) उस परमात्मदेव के (काव्यं) काव्य को (पश्य) देख, जो कि काव्य (न ममार) कभी मरा नहीं, मरता नहीं और जो (न जीर्यति) कभी जीर्ण नहीं होता, पुराना नहीं होता।

२६ आश्विन

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥

अ. १. ३४. ३।

विनय

मेरा प्रत्येक कर्म मधुमत् होवे। मेरा आना जाना, मेरा पास होना और दूर होना, मेरी प्रवृत्ति और निवृत्ति ये सब क्रियायें माधुर्यमय और प्रेमपूर्ण होवें। लोग समझते हैं कि पास होना आकृष्ट होना तो प्रेमयुक्त होता है पर जुदा होना दूर हटना प्रेमयुक्त नहीं हो सकता। परन्तु नहीं, हमारा दूर हटना भी प्रेमपूर्ण ही होना चाहिये; दूर हटने, जुदा होने में भी हमें उस भाई के प्रति जिस से कि हम हटते हैं अपने प्रेमभाव व माधुर्य को नहीं त्यागना चाहिये। किसी समय जुदा हो जाना, निवृत्ति, असहयोग करना कर्तव्य होता है, धर्म होता है, परन्तु उस समय अपने उस प्रतिपक्षी साथी के प्रति उसी तरह प्रेमभाव बनाये रखना भी उतना ही आवश्यक धर्म होता है। इसी लिये मेरी तो जहाँ प्रत्येक निक्रमण की, निकटगमन की क्रिया मधुमय होती है, वहाँ मेरी प्रत्येक परायण की हटने की, क्रिया भी माधुर्यमय होती है। और इस निक्रमण और परायण से बाहर मेरी और कौन सी क्रिया रह गयी? मैं वाणी से भी मीठा ही बोलता हूँ; स्थूल वाणी से, हृदय की वाणी से लेख की वाणी से या आचरण की वाणी से, अपनी

प्रत्येक अभिव्यक्ति से मैं माधुर्य को ही बरसाता हूँ। इस तरह हे प्रभो! अपनी एक चेष्टा में, क्रिया में, हरकत में तथा एक-एक वाणी में, वचन में माधुर्य को ही लाता हुआ मैं मधुसंदृश बन जाऊँ। हे मधुस्वरूप! जब मैं इस तरह अपने जीवन में माधुर्य की उपासना करूँगा तो निश्चय से बाहर भी मेरे लिये सब कहीं माधुर्य ही माधुर्य हो जायगा। मेरी दृष्टि में ऐसा माधुर्य बस जायगा कि मैं इस संसार में माधुर्य के सिवाय और कुछ नहीं देख सकूंगा। और तो क्या, अपने प्रति किये गये प्रहारों में, आक्षेपों में, निन्दा में, नुक़ताचीनियों में भी मैं माधुर्य ही माधुर्य देखूंगा। ओह, हे परम मधु वाले! तेरे माधुर्य से भरे पड़े इस संसार में मैं माधुर्य के सिवाय और कुछ कैसे देख सकूंगा?

शब्दार्थ—

(मे) मेरा (निक्रमणं) निकट जाना, प्रवृत्ति (मधुमत्) माधुर्यमय होवे, तथा (मे) मेरा (परायणं) दूर हटना, निवृत्ति भी (मधुमत्) माधुर्यपूर्ण होवे। मैं (वाचा) वाणी से (मधुमत्) माधुर्ययुक्त ही (वदामि) बोलता हूँ, इसी लिये [हे मधुस्वरूप]! मैं (मधुसंदृशः) मधुरूप या सर्वत्र मधु को ही देखने वाला (भूयासम्) हो जाऊँ।

३० आश्विन

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥

अ. १०. ८. २९।

विनय

मनुष्यो ! आओ हम यह जानें कि यह संसार परिपूर्ण है। संसार की पृथक्-पृथक् वस्तुयें बेशक अपूर्ण हैं, अधूरी हैं, त्रुटिपूर्ण हैं किन्तु यह समूचा संसार मिल कर परिपूर्ण ही है। यदि हम संसार की परिपूर्णता को नहीं अनुभव करते हैं तो हम अभी संसार को नहीं जानते हैं। पूरी समूची दृष्टि से जब हम संसार को देख सकेंगे तो हम देखेंगे कि इस समष्टि संसार में कोई कसर, त्रुटि व कमी नहीं है। और यह संसार पूर्ण क्यों न हो, जब यह पूर्ण पुरुष का रचा हुआ है ? पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। निःसन्देह यह जगत् उस पूर्ण परमेश्वर से निकला है, प्रादुर्भूत हुआ है।

भाइयो ! और फिर तुम यह देखो कि उस पूर्ण प्रभु ने इस पूर्ण जगत् को एक वार पैदा कर के ही नहीं रख दिया है, किन्तु वह इसे लगातार सींच भी रहा है, सतत जीवन-रस पहुंचाता हुआ पालन भी कर रहा है। अर्थात् यह जगत् न केवल पूर्ण पैदा हुआ है किन्तु पूर्ण रूप से चल भी रहा है, और पूर्ण रूप से सदा चलता रहता है, इस पूर्ण माली द्वारा पूरी तरह सींचा जाता हुआ सदा पूर्णतया फलता-फूलता रहता है।

हे मेरे भाइयो ! यदि हम ने यह जान लिया है कि यह जगत् एक परिपूर्ण कृति है और फिर यह भी जान लिया है कि फलतः इस का कर्त्ता भी परिपूर्ण होना चाहिये, तो आओ अब हम उस परिपूर्ण को जानें, पहिचानें और प्राप्त करें जो कि इस पूर्ण जगत् को उत्पन्न कर इसे सदा परिपूर्णतया सींच रहा है। आओ, आओ, तो आज से हम उस की खोज में निकल पड़ें जो कि परिपूर्ण है और परिपूर्णता का देने वाला है, आज से उस पथ के पथिक बन जायें जो कि हमें परिपूर्णता के पद पर पहुँचाने वाला है।

शब्दार्थ—

(पूर्णात्) पूर्ण से (पूर्णं) पूर्ण (उदचति) उत्पन्न होता है, और (पूर्णं) यह पूर्ण (पूर्णेन) उस पूर्ण द्वारा (सिच्यते) सींचा भी जाता है। (उतो) तो (अद्य) अब, आज हम (तद्) उस [पूर्ण] को (विद्याम) जानें प्राप्त करें (यतः) जिस द्वारा (तत्) वह [दूसरा पूर्ण] (परि-सिच्यते) पूर्णतया सींचा जा रहा है।

•

३१ आश्विन

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥

ऋ. १०. ८. २६।

विनय

देखो, यह कल्याणस्वरूपिणी देवता है जो कि कभी बुड्ढी नहीं होती है, सदा अजरा है। यह मरणशील मनुष्य के, मर्त्य के, घर में धारण की गई अमृत है, कभी न मरने वाली है। यह इस घर में न जाने कब से बैठी है। पर बड़े दुःख की बात है कि यह जिस के लिये आयी है जिस के लिये घर में धारण की गई है, वह सोया पड़ा है; वह लगातार सोया पड़ा है, यह उसे धारण करने वाला घर जीर्ण हो जाता है, और ढह जाता है, किन्तु फिर भी उस की नींद नहीं समाप्त होती।

क्या तुम समझे कि यह कल्याणी देवता किस के लिये आयी हुई है? शरीर रूपी मर्त्यगृह में धारण की गयी यह आत्मदेवता किस काम के लिये बैठी हुई है? यह तो जीव का कल्याण करने के लिये आयी हुई है। यह माता तो अपने जीव-पुत्र को उस के कल्याणमय मंगलधाम में ले जाने के लिये आयी हुई है और न जाने कब से पुत्र के जगने की प्रतीक्षा में बैठी हुई है। उसे धारण करने वाले एक नहीं बहुत से घर जीर्ण हो चुके हैं, बहुत से शरीर बुड्ढे हो चुके हैं; पर वह प्रतीक्षा में बैठी हुई है। यह अजरा अमृता माता तो अनन्त काल तक ऐसे ही निर्विकार बैठी रह सकती है, और जब तक जीव न जागेगा तब तक बैठी रहेगी। पर हा! चिन्ता की बात तो यह है कि यह जीव कब जागेगा? यह पुत्र कब जागेगा? कब जागृति पावेगा?

शब्दार्थ—

(इयं) यह (कल्याणी) कल्याणस्वरूपिणी देवता

(अजरा) कभी जीर्ण न होने वाली, कभी बुड्ढी न होने वाली है, यह (मर्त्यस्य) मरणशील मनुष्य के (गृहे) घर में, शरीर में धारण की गई (अमृता) अमृत है, न मरने वाली है। किन्तु (यस्मै) जिस के लिये (कृता) यह धारण की गई है (सः) वह (शये) सोया पड़ा है, इसे (यः) जिस ने (चकार) धारण किया है (सः) वह भी (जजार) जीर्ण हो जाता है।

☆

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।

अथर्ववेद १२. १. १२।

मेरी माता भूमि है और मैं भूमि माता का पुत्र हूँ।

★

कार्तिक मास

कार्त्तिक (तुला)

[कार्त्तिक के लिये प्राणदायक व्यायाम—उत्पादक अंगों को स्वस्थ और नीरोग रखने वाला]

प्रारम्भिक स्थिति में खड़े होइये, भुजायें नीचे लटकी हों, मुट्ठियां कसी हों और शरीर की सब मांस पेशियां तनी हुई हों। दाहिने पैर को फर्श से एक दो इञ्च ऊपर उठाइये, पर इस का घुटना, बिलकुल तना हुआ और सीधा रहे। आप के शरीर का सारा बोझ बांये पैर पर थमा हुआ हो। अब दांये पैर को इस के जंघामूल के जोड़ पर घुमाइये और इसे जहां तक बांई ओर ले जा सकते हों वहां तक ले जाइये, और फिर इसे दूसरी तरफ़ चक्राकार में घुमाते हुये जहां तक ले जा सकते हों वहां तक दांई तरफ़ ले जाइये। यह सब करते हुए शरीर को इधर-उधर मत हिलने दीजिये और न पैर को ही जमीन से छूने दीजिये। इस के बाद दांये पैर पर खड़े हो कर यही व्याव्याम बांये पैर से कीजिये। शरीर को ढीला छोड़ दीजिये और फिर से इस व्यायाम को दुहराइये। इस व्यायाम भर में लगातार गहरे, पूर्ण और पेट तक पहुंचने वाले श्वास लेते रहिये।

यह व्यायाम हमारे उत्पादक अङ्गों के लिये लाभकारी है ध्यान कीजिये कि मैं बलवान् हूँ और प्राणशक्ति से परिपूर्ण हूँ। इस प्राणायाम से मुझ में नया जीवन संचार हो रहा है इत्यादि।

इन उत्पादक अंगों को गौणतया वैशाख, श्रावण तथा माघ मास की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

★

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ।
विदुष्टे तस्य मेधिराः तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥

ऋ. १. ११. ७ ।

विनय

हे परमेश्वर ! तेरे इस संसार में शुष्ण असुर भी उत्पन्न हुआ करता है। यह वह मनुष्य व मनुष्यसमूह होता है जो कि दूसरों के शोषण पर, चूसने पर, अपना निर्वाह करता है। यह बड़ा मायावी होता है। यह दूसरों के रक्त का शोषण बड़ी गहरी माया से, बड़े छल-कपट से करता है। यह ऐसे प्रबन्ध से काम करता है, ऐसे ढंग रचता है कि हमें अपना कुछ भी अनिष्ट होता हुआ नहीं पता लगता; किन्तु चुपके-चुपके हमारे सब सत्व, सब विद्या, सब सम्पत्ति का अपहरण होता चला जाता है। इस की माया के अच्छी तरह फैल जाने पर तो यह अवस्था आ जाती है कि इस शुष्ण असुर के शिकार हुवे लोग ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि वे स्वेच्छा से, प्रसन्नता से, अपने को चुसवाते, शोषित करवाते जाते हैं। परन्तु हे इन्द्र ! तू इस मायावी महाअसुर को मायाओं द्वारा ही विनष्ट कर देता है। तेरा जगद्विधान इतना सच्चा और परिपूर्ण है कि इस में माया की अपने आप प्रतिक्रिया होती है; माया अपनी प्रतिद्वन्द्वी माया

को पैदा कर अपना आत्मघात कर लेती है। चालें चलने वाला आखिर अपनी चालों से ही मारा जाता है। तेरी सच्ची माया (प्रज्ञा) के सामने शुष्ण की झूठी माया विलीन हो जाती है। पर तेरे इस सृष्टि के रहस्य को, तेरे इस सामर्थ्य को, विरले मेधा वाले ज्ञानीजन ही जानते हैं। शेष साधारण लोगों को तो जब इस भयंकर शोषण का पता लगता है तो वे घबरा उठते हैं, और समझने लगते हैं कि इस संसार में कोई इन्द्र नहीं, परमेश्वर नहीं, कोई ग़रीबों की आह सुनने वाला नहीं। किन्तु ये 'मेधिर' लोग श्रद्धा भरी आंखों से तेरी तरफ़ देखते हुये अपना काम करते जाते हैं। पर हे इन्द्र! अब तो बहुत देर हो चुकी, शुष्ण राक्षस का उपद्रव पराकाष्ठा को पहुँच चुका। पीड़ितों की सुधि तुम और कब लोगे? ये देखो चुसते-चुसते अब यहां क्या बचा है? ये देखो, मेधावी लोग अब एकमात्र तुम्हारी तरफ़ टकटकी लगाये देख रहे हैं। अब तो तुम छिनते जाते ग़रीबों के पेट के अन्नों का उद्धार कर दो, नष्ट होते जाते उन के सत्त्वों का रक्षण कर दो। शुष्ण की माया को छिन्न-भिन्न कर के इस से ढके पड़े सज्जनों के यशों को फिर सुप्रकट कर दो। प्रभो! अब तो हद हो चुकी है। हे इन्द्र! तुम्हारा इन्द्रत्व और किस समय के लिये है?

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वं) तुम (मायिनं) माया वाले, बड़े कपटी (शुष्णं) शोषण करने वाले राक्षस को (मायाभिः) मायाओं द्वारा ही (अवातिरः) नीचे कर देते

हो, विनष्ट कर देते हो। (ते) तुम्हारे (तस्य) उस रहस्य को (मेधिराः) मेधा वाले ज्ञानी लोग ही (विदुः) समझते हैं; तुम अब (तेषां) उन के (श्रवांसि) अन्नों को, सत्वों को, यशों को (उत्तिर) ऊँचा कर दो, उद्धार कर दो।

२ कार्तिक

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

अ. ११. ५. १६।

विनय

शरीर में वीर्य ही जीवनवर्धक वस्तु है। हम इस वीर्य को जितना-जितना धारण करेंगे उतना ही हम जीवनपूर्ण होंगे और मृत्यु को जीतेंगे। मनुष्यो! यदि तुम मृत्युभय से पार होना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य को धारण करो। सब देव जो अमर हुये हैं, ज्ञानी सन्त महात्मा ऋषिलोग जो मृत्यु को भी मारे हुये निश्चित बैठे हैं, वे इस स्पृहणीय अवस्था को ब्रह्मचर्य के तपोबल द्वारा ही पहुंचे हैं। शारीरिक वीर्य, मानसिक तेज, और आत्मिक शक्ति को सदा रक्षित रखना, कभी भी भोग में गिर कर इस का क्षय न होने देना, यही वह कठिन ब्रह्मचर्य का तप है जिस से कि मौत भी मारी जाती है और सच्चा परम सुख पाया जाता है। संयमी ब्रह्मचारी जिस दिव्य सुख को अनुभवकरते हैं उस की एक कला भी भोगियों को नहीं मिलती

है। बिचारे भोगी लोग सुख को जानते ही नहीं हैं। यदि उन्हें सच्चे आत्मवश सुख का पता लग जाय तो वे कभी भोगों की इच्छा न करें। हे भाइयो! तुम उन परम ब्रह्मचारी परमेश्वर की तरफ़ क्यों नहीं देखते? वे इन्द्र परमैश्वर्यवाले होते हुए भी त्रिकाल में भोगवासना से परे हैं और सर्वथा निष्काम हैं। इसी लिये उन के पास अपनी शक्ति का ऐसा अक्षय भण्डार संचित है कि वे देवराज अपने सब अग्नि आदि देवों के लिये तथा सब मनुष्य-देवों के लिये तेज और सुख को अनवरत देते चले जा रहे हैं। यदि इस संसार के मूल में उन इन्द्र प्रभु का ब्रह्मचर्य न हो तो यह संसार एक क्षण भर न चल सके। इसी तरह शरीर में आत्मा-इन्द्र अपने ब्रह्मचर्य द्वारा ही सब इन्द्रिय-देवों में तेज और सुख को सदा ला रहे हैं। भोगों में पड़ते जाने से इन्द्रियों का तेज सदा क्षीण होता जाता है, पर उन के आत्माभिमुख होने पर वे ब्रह्मचर्य द्वारा रक्षित आत्मा के अपार तेज और सुख से परिपूर्ण हो जाती हैं, भर जाती हैं। अतः हे मनुष्यो! यदि तुम मौत को मारना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की साधना करो, और यदि तुम सुख पाना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की उपासना करो।

शब्दार्थ—

(देवाः) देव, ज्ञानी पुरुष (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तपोबल से (मृत्युं) मौत को (अपाघ्नत) मार डालते हैं। (इन्द्रः) परमेश्वर व आत्मा (ह) भी निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही (देवेभ्यः) देवों के

लिये (स्वः) सुख व तेज को (आभरत्) लाता है, प्राप्त कराता है।

•

३ कार्तिक

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

अ. ११. ५. १७।

विनय

जो राजा अजितेन्द्रिय, विलासी होता है उस के दुर्बल हाथों में राज्य की बागडोर संभली नहीं रह सकती। क्योंकि जिस सरकार के अधिकारी व कर्मचारी विषयलोलुप, आचार-हीन और लम्पट होते हैं उस की प्रजा अरक्षित हो जाती है; एवं पीड़ित और दुःखी होती हुई वह प्रजा उस सरकार को शाप देती रहती है। ऐसी सरकार शीघ्र ही च्युत हो जाती है। अतः हे राजाओ! यदि तुम सचमुच राज्य करना चाहते हो, प्रजा का ठीक-ठीक रंजन और रक्षण करना चाहते हो, प्रजा को धनसमृद्ध, ज्ञानविकसित और उन्नत बनाना चाहते हो, तो तुम ब्रह्मचारी बनो और तपस्वी बनो। तुम अपने जीवन को सादा, संयमी और तेजस्वी बनाओ और अपने आप को जितेन्द्रिय, कष्टसहिष्णु और ईश्वरपरायण बनाओ।

इसी तरह जो आचार्य शिष्य को शिक्षित करना चाहता है, उसे ब्रह्मचारी रखकर वेदज्ञान देना चाहता है, उसे स्वयं

ब्रह्मचारी होना चाहिये, बड़ा उन्नत ब्रह्मचारी होना चाहिये। नहीं तो उसे ब्रह्मचारियों की इच्छा ही नहीं करनी चाहिये। वास्तव में यह आचार्य का अपना ब्रह्मचर्यमय और शान्तिप्राप्त जीवन ही होता है जिस के कारण वह इच्छा करता है कि और भी बहुत से लोग ब्रह्मचारी बनें, कि जितने ब्रह्मचारी बनें उतने थोड़े हैं। सचमुच आचार्य अपने ब्रह्मचर्य के बल द्वारा ही ब्रह्मचारियों को आकृष्ट करता है, उन पर शासन करता है, उन्हें अपने वश में रखता है, अपने से जोड़े रखता है और उन्हें ब्रह्मामृत पिलाता हुआ परिपुष्ट करता रहता है।

एवं कोई भी शासन—राज्यशासन या शिक्षाशासन, क्षत्रिय का शासन या ब्राह्मण का शासन—ब्रह्मचर्य के बिना नहीं चल सकता।

शब्दार्थ—

(राजा) राजा (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तप द्वारा (राष्ट्रं) राष्ट्र की (वि रक्षति) ठीक-ठीक रक्षा करता है। और (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य से ही (ब्रह्मचारिणं) ब्रह्मचारी को (इच्छते) चाहता है।

४ कार्त्तिक

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥

अ. ११. ८. ३२।

विनय

सब ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह पुरुष ब्रह्म है। क्या तुम जानते हो कि वे ऐसा क्यों कहते हैं ? इस का कारण यह है कि सब के सब देवता हमारे शरीर में आये हुये हैं और सब देवों का देव परमदेव परमेश्वर भी हमारे अन्दर है। सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव हमारे शरीर में ऐसे अपना घर बना कर आ बैठे हैं जैसे कि अपने गोष्ठ में, गोशाला में, गौएँ यथास्थान बैठी हुई होती हैं। सचमुच हमारा देह देवों का घर बना हुआ है। सूर्य देवता हमारे चक्षु को, ज्ञान को, ज्ञान के विस्तृत कोष को अधिकृत कर के आ बैठा है, और उस के साथ सम्पूर्ण द्युलोक और द्युलोक के सब देवता समाये हुये हैं। वायु देवता हमारे प्राण में, मनोमय सहित हमारे प्राणशरीर में ठहरा हुआ है और उस के साथ सम्पूर्ण अन्तरिक्षलोक और अन्तरिक्ष के सब देव आये हुये हैं। और अग्नि देवता हमारे शेष स्थूल शरीर को सम्भाल कर बैठा हुआ है और उस के साथ समस्त पृथ्वीलोक तथा पृथ्वी के सब देव विराजे हुए हैं। इस तरह यह सब त्रिलोकी, त्रिलोकी के सब भुवन और भुवनों के सब के सब तैंतीस, तीन सौ तीन या तीन हज़ार तीन[1] देवता इस शरीर में आये हुये हैं। सचमुच सब ब्रह्माण्ड ही इस पिण्ड में है। इस में आश्चर्य ही क्या है ? जब कि वह परमदेव हमारे अन्दर है तो उस की सम्पूर्ण विभूति, उस का सम्पूर्ण विश्व क्यों न हमारे अन्दर होगा ? वास्तव में सब कुछ हमारे

---

१. बृहदा. उ. ६. १. १।

अन्दर ही है और मनुष्य को जब भी कभी सब कुछ की प्राप्ति होगी तो अपने अन्दर से ही होगी। बाहर कुछ नहीं है। बाहर तो केवल हमारे अन्दर की छायामात्र है, अस्थिर छाया-मात्र है। इसलिये हे मनुष्य! जिस दिन इस परम सत्य का साक्षात्कार तुझे हो जायेगा तो निश्चय से तू भी बोल उठेगा 'इदं ब्रह्म' पुरुष के विषय में कहने लगेगा 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है।'

शब्दार्थ—

(तस्मात्) इसी कारण (वै) ही (विद्वान्) ज्ञानी लोग (पुरुषं) इस पुरुष को (इदं ब्रह्म इति) 'यह ब्रह्म है' ऐसा (मन्यते) मानते हैं। क्योंकि (अस्मिन्) इस पुरुषदेह में (सर्वाः हि देवताः) सब की सब देवताएँ (गावः गोष्ठे इव) जिस तरह गौशाला में गौएँ बैठी होती हैं उसी तरह (आसते) आ विराजी हुई हैं

•

५ कार्त्तिक

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाड् आशामाशां विषासहिः॥

अ. १२. १. ५४।

विनय

मैं सहनशक्ति में अदम्य हूँ। मैं सह-सह कर सब को हरा दूंगा, सब को पराभूत कर दूंगा। अपनी भूमि माता के

लिए ऐसी क्या चीज़ है जिसे मैं सह नहीं लूंगा। मैं इस भूमि पर 'उत्तर' हो कर उत्पन्न हुआ हूँ, उत्कृष्टतर मनुष्य-योनि पाकर उत्पन्न हुआ हूँ। मुझे अपने मनुष्यत्व का अभिमान है। मैं मनुष्य हो कर कभी सहन करने में कैसे हार खा सकता हूँ? मैं तो भूमिमाता का मुख उज्ज्वल करने के लिये असह्य से असह्य कठिनाइयों और मुसीबतों को सह डालूंगा। मेरे मुकाबिले में जो कोई आवेगा उसे मैं अपनी सहनशक्ति द्वारा वशीभूत कर लूंगा, अपने सामने नमा लूंगा। मेरे अभिमुख कोई भी प्रतिद्वन्द्वी खड़ा नहीं रह सकता। मैं उत्तर हूँ। मैं सब सह लूंगा। मैं भूमिमाता का पुत्र हूँ, मैं सब का अभिभव कर दूंगा। हे संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति! तू आ, मैं आज सब को जीत लूंगा मैं तो जिस दिशा में पैर रखूंगा उसे ही अपनी सहनशक्ति द्वारा अपने सामने झुका लूंगा, जिस आशा या इच्छा से निकलूंगा उसे ही अपने इस अमोघ अस्त्र द्वारा अधिगत कर लूंगा। मैं अभीषाड् हूँ, मैं विश्वाषाड् हूँ।

शब्दार्थ—

(अहं) मैं (सहमानः) सहन करने वाला (अस्मि) हूं, (भूम्यां) इस भूमि पर (उत्तरः नाम) उत्कृष्टतर प्रसिद्ध हूँ। मैं (अभीषाड्) मुकाबिले में आये हुये को सहने वाला (अस्मि) हूं, (विश्वाषाड्) सब कुछ सहने वाला हूँ (आशां आशां) प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक इच्छापूर्ति के लिये सब कुछ (विषासहिः) विशेषतया बार-बार सह सकने वाला हूँ।

६ कार्तिक

इयं या परिमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥

अ. १६. १. ३।

विनय

हमारे अन्दर जो वाणी है वह एक बहुत बड़ी देवता है। हमारा दौर्भाग्य है कि हम इस के माहात्म्य को नहीं समझते। यह तो परमेष्ठिनी है। परम में ठहरने वाली है। इस का स्थान परमदेव में है। पर हम इसे एक मामूली चीज समझते हुये इस के साथ 'परमेश्वर से सम्बन्ध रखने वाली वाग् देवता' का सा बर्ताव नहीं करते। यदि हम इस के साथ ऐसा ही बर्ताव करें और इसे ब्रह्मसंशिता बनावें तो इस के समान संसार में और कोई दूसरी शक्ति नहीं है। ब्रह्म से, ईश्वरीय ज्ञान से, ब्रह्मचर्य-प्राप्त ब्रह्मतेज से संशित की गई, तीक्ष्ण की गई वाणी एक ऐसा शस्त्र है जो अमोघ है। यह इन्द्र का वज्र है। यह आत्मा की एकमात्र शक्ति है। अनादिकाल से संसार के सब दिव्य लोग इसी दिव्य हथियार को बरतते आये हैं। यह ठीक है कि जैसे हर एक ही हथियार का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों किये जा सकते हैं वैसे ही इस वाक् का दुरुपयोग भी हो सकता है और सदा होता रहा है। इस से बड़े-बड़े घोर कृत्य किये गये हैं। संसार में जो सदा लड़ाई झगड़े उपद्रव और संग्राम होते रहते हैं प्रायः उन सब का मूल किसी न किसी रूप

में वाणी का दुरुपयोग ही होता है। वाणी की तलवार के घाव कितने बुरे होते हैं और कितने भयंकर दुष्परिणाम के लाने वाले होते हैं, यह सभी अनुभवी लोग जानते और देखते हैं। परन्तु हम तो कभी वाणी का दुरुपयोग नहीं करेंगे। अपनी वाणी का सदा शान्ति फैलाने के लिये, प्रेम व मेल बढ़ाने के लिये ही उपयोग करेंगे। इस देवी का, परमेश्वर की प्रदान की हुई इस परम पवित्र वस्तु का, हम बहुत सोच समझ कर उपयोग करेंगे। इसके द्वारा जख्मों को भरेंगे, फटे हुवों को मिलायेंगे और जुदा हुवों को गले लगायेंगे हमारा संकल्प है कि इस वाणी शक्ति द्वारा हम संसार में शान्ति को फैलायेंगे, संसार में शान्ति का संस्थापन करेंगे।

शब्दार्थ—

(इयं) यह (या) जो (परमेष्ठिनी) परमदेव परमेश्वर में ठहरने वाली और (ब्रह्मसंशिता) ज्ञान से तीक्ष्ण की गयी (वाक्) वाणी रूपी (देवी) देवता है, (यया एव) जिस से कि निःसन्देह (घोरं) बड़े-बड़े घोर कृत्य (ससृजे) किये जाते हैं (तया एव) उसी वाणी से (नः) हमारे लिये, हम मनुष्यों के लिये (शान्तिः) शान्ति (अस्तु) होवे, फैले।

•

७ कार्तिक

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

य. ४०. १।

विनय

हे मनुष्य ! बिना पूछे ताछे, बिना जाने बूझे तूने उत्पन्न होते ही इस संसार के ऐश्वर्यों को भोगना शुरू कर दिया है, पर क्या तूने कभी यह भी पता लगाया है कि यह ऐश्वर्य-धन किसका है ? इस धन का ईश कौन है, स्वामी कौन है ? अरे, इसका स्वामी तो हर जगह विद्यमान है। वह न दीखता हुआ भी हर वस्तु में रमा हुआ है। इस जगतीतल पर यह जो भी कुछ जगत् दीख रहा है, पदार्थजात विद्यमान है, वह सब इस ईश से बसा हुआ है, इस से अधिकृत हुआ हुआ है। तुझे चाहिये कि तू उस ईश की अनुमति पाकर ही इन ऐश्वर्यों का भोग कर, अर्थात् तेरे अन्दर बैठा हुआ वह ईश तुझे जो कुछ दे रहा है उसी का भोग कर। दूसरे को दिये गये धन को देखकर तू कभी मत ललचा। वह उसी के लिए दिया गया है। सब धन तो उस ईश का ही है। और वह हमारे कल्याण के लिये और जगत्-कल्याण के लिये हम मनुष्यों को यथायोग्य धन देता है। इसलिये तू कभी लोभ मत कर, दूसरे को दिये गये धन पर दृष्टिपात मत कर। जो कुछ तुझे दिया है उसका ही संतोष के साथ भोग कर। इसी में तेरा कल्याण है। और फिर तू इस प्राप्त धन का भी त्यागपूर्वक भोग कर। जो कुछ तेरे सामने आता है उस में से यज्ञ का भाग निकाल कर जो शेष बचे उसे ही भोग कर; जगत् कल्याण के लिये, सर्वहित के लिये, दे देने के बाद जो बच रहे उसे ही अपने लिये समझ। यह यज्ञभाग तो उस ईश का भाग है। उस से जो कुछ छूटे,

त्यक्त होवे, उसी त्यक्त से तू अपना काम चला, उपभोग कर। और इस अमृत का उपभोग भी तू सदा ईशार्पण कर के कर। तू और तेरा सब कुछ भी उस ईश का ही तो है। अतः तू जो कुछ भोगता है उसे सदा इसी भावना से भोग कि इस के भोगने से जो तेरी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पुष्टि होगी वह उस ईश के काम के लिये होगी, ईश की सेवा के लिये होगी। देख, इस जगत् में ईश के इस सब धन को भोगने का यही एक नियम (कानून) है, एकमात्र यही ठीक विधि (तरीका) है।

शब्दार्थ—

(जगत्यां) इस संसार में (यत् किंच) जो कुछ भी (जगत्) सृष्टि है वह (इदं) यह सामने दीखने वाला (सर्वं) सभी कुछ (ईशा) ईश से, ईश्वर से (वास्यं) बसा हुआ है, व्याप्त है। अतः (तेन) उस ईश्वर से (त्यक्तेन) त्याग किये हुये धन से ही (भुञ्जीथाः) तू अपना भोग प्राप्त कर, (कस्य-चित्) किसी दूसरे के (धनं) धन की (मा गृधः) कभी चाह मत कर।

८ कार्तिक

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

य. ४०. २।

विनय

मनुष्य को चाहिये कि वह कर्म करता हुआ ही जीना चाहे। यदि वह कर्म नहीं करता है तो उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं है। यह जीवन कर्म करने के लिये ही दिया गया है। हे मनुष्य! क्या तू डरता है कि कर्म करने से तू कर्म में लिप्त हो जायगा, बंध जायगा? नहीं, यदि पूर्वोक्त प्रकार से त्यागपूर्वक तू जगत् को भोगेगा, ईशार्पण बुद्धि से अपने सब व्यवहार करेगा, सर्वथा 'मम', 'अहं' को छोड़ कर कर्म करेगा तो तेरे ऐसे कर्म कभी तुझे बन्धनकारक नहीं होंगे। ऐसे निष्काम कर्मों का कभी तुझ नर में लेप नहीं होवेगा। सचमुच ऐसे निष्काम कर्म करने वाले ही संसार में असली नर होते हैं, व्यवहार को चलाने वाले होते हैं, नेता होते हैं। अतः हे नर! तू अनासक्त हो कर त्यागपूर्वक कर्मों को कर। यही कर्मलेप से बचने का उपाय है। बल्कि इस निष्काम कर्म की साधना के सिवाय संसार में और कोई उपाय कर्मलेप से बचने का नहीं है। क्या तू समझता है कि कर्म न करने से तू कर्मलेप से बच जायगा? अरे भोले! जब तक यह शरीर है, जीवन है तब तक कर्मत्याग हो ही कैसे सकता है? कुछ न कुछ शारीरिक या मानसिक कर्म किये बिना तू जी ही कैसे सकता है? यदि कर्म से बचने के लिये तू आत्मघात भी कर डालेगा तो भी तुझे छुटकारा नहीं मिलेगा। तुझे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा और तुझे इस आत्मघात का पाप भी लगेगा। तू देख कि जिस समय कर्म करना आवश्यक हो उस समय कर्म न करने से

अकर्म का पाप भी लगता है। अतः याद रख कि कर्म त्यागने से तो तुझे कभी निर्लेपता नहीं मिलेगी। इसका साधन तो एक ही है कि कर्म किया जाय, किन्तु निर्लेप होकर किया जाय। अतः हे मनुष्य! तू उठ और इस अकर्म की तामसिक अवस्था को त्याग कर उत्साह पूर्वक निर्लेप कर्मों को किया कर, सर्वथा निर-हंकार होकर सदा प्रभु-अर्पित अवस्था में रहते हुए सहजप्राप्त कर्मों को निःसंग होकर सदा किया कर। ऐसे कर्मों को तू अपने संपूर्ण सौ वर्षों तक करता जा, अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक करता जा।

शब्दार्थ—

मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतं समाः) सौ बरस तक (जिजीविषेत्) जीता रहना चाहे। (एवं) इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से त्याग पूर्वक कर्म करने से (त्वयि) तुझ (नरे) नर में, कर्म चलाने वाले पुरुष में (कर्म) कर्म (न लिप्यते) लिप्त नहीं होगा। (इतः अन्यथा) इस के अतिरिक्त [कर्मलेप से बचने का] और कोई उपाय (न अस्ति) नहीं है।

●

९ कार्तिक

बह्विदं राजन् वरुण-अनृतमाह पूरुषः।
तस्मात् सहस्रवीर्य मुंच नः पर्यंहसः॥

अ. १९. ४४. ८।

विनय

हे सच्चे राजा, हे पापनिवारक! मनुष्य बहुत अनृत बोला करता है और बड़ी तुच्छ-तुच्छ बातों पर अनृत बोला करता है। प्रातः से लेकर रात्रि तक एक दिन में ही न जाने कितनी बार असत्य भाषण करता है। हम मनुष्यों का जीवन इतना अनृतमय हो गया है कि प्रायः हम लोग यह अनुभव नहीं करते कि हम कितना अधिक असत्य बोलते हैं। यह अनुभव तो तब मिलता है जब कि मनुष्य सचमुच झूठ से घबराने लगता है और सत्य ही बोलने के लिए सदा सचिन्त रहने लगता है। उस समय मुख से निकली अपनी एक वाणी पर पूरा-पूरा निरीक्षण और विवेचन करने पर उसे पता लगता है कि वह सूक्ष्म रूप में कितने अधिक असत्य बोलता है। सच तो यह है कि हम में से जो लोग अपने को सत्य बोलने वाला समझते हैं वे भी असल में काफी असत्य बोलते हैं। जो पूरा सत्यवादी होगा, पतञ्जलि, व्यास, आदि ऋषि मुनियों के कथनानुसार उस की वाणी में तो ऐसा तेज आ जायगा कि वह जो कुछ कहेगा वह सच्चा हो जायगा, वह क्रिया और फल से समन्वित हो जायगा। यदि वह किसी को कहेगा कि 'तू नीरोग हो जा'[1] तो वह नीरोग हो जायगा। अर्थात् जो कार्य हम हाथ-पैर आदि की स्थूल शक्ति से सिद्ध करते हैं वह पूरे सत्यवादी पुरुष की वाणी की शक्ति से हो जाता है। अतः वास्तव में हम में से

---

१. देखो योगदर्शन २-३६ और व्यास भाष्य।

ऊँचे से ऊँचे पुरुष भी अभी सर्वथा असत्यरहित नहीं हुए हैं।

हे सहस्रवीर्य ! इस असत्य से तुम ही हमें बचाओ। हमने आत्मनिरीक्षण करते हुए सदैव देखा है कि हम सदैव तुच्छ भय-लोभ-आसक्ति आदि के कारण ही, सदैव अपनी कमज़ोरी-निर्बलता-वीर्यहीनता के कारण ही असत्य बोलते हैं। अतः हे अपरिमित वीर्य वाले ! तुम हमें ऐसे वीर्य और बल से भर दो कि हम सदा निधड़क होकर सत्य ही बोलें, झूठ बोल ही न सकें, झूठ बोलने की कभी आवश्यकता ही न अनुभव करें। सचमुच तुम्हारी सहस्रवीर्यता का ध्यान कर लेने पर हम में इतना बल संचार हो जाता है कि हम अनुभव करने लगते हैं कि हम भी कभी पूरे सत्यवादी हो जायेंगे। इस तरह, हे सहस्र-वीर्य ! तुम हमें सदा असत्य से छुड़ाते रहो, असत्य के पाप से हमें सब तरफ से मुक्त करते रहो।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे पापनिवारक ! (राजन्) हे सच्चे राजा ! (पूरुषः) मनुष्य (इदं) यह [तुच्छ-तुच्छ] (बहु) बहुत (अनृतं) झूठ (आह) बोलता है। (तस्मात्) उस (अंहसः) पाप से, (सहस्रवीर्य) हे अपरिमित वीर्य वाले ! तू (नः) हमें (परिमुंच) सब तरफ से मुक्त कर दे।

१० कार्तिक

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥

अ. १२. १. ५६ ।

विनय

हे भूमिमातः ! हम प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक समय में, प्रत्येक विषय में तेरे लिये चारु ही भाषण करें, तेरे लिये उत्तम वाणी ही बोलें। सदा ऐसी बात बोलें जो कि तेरे यश को बढ़ाने वाली हो, तेरे लिये हितकर हो, तेरी उन्नति करने वाली हो। हम तेरे ग्रामों नगरों में रहें तो हमारे अन्दर परस्पर प्रेमपूर्वक तेरी ही चर्चायें चलें, तेरे गौरवपूर्ण भूत की कथायें कही जावें और तेरे उज्ज्वल भविष्य की बातें होवें। हम तेरे जंगल में होवें तो वहां अकेले भी हम तेरे स्तुति-गीत गावें, तेरे प्रेम की गीतियाँ गाते हुए आनन्द पावें। यदि तेरी सभाओं में जावें तो वहां तेरे पक्ष में भाषण करें, तेरे उन्नतिकारक प्रस्तावों पर हमारे प्रभावशाली भाषण होवें। और यदि संग्रामों में खड़े हों तो वहां तेरे ही उच्चस्वर से नारे लगावें, अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ाते हुए तेरे जयघोषों से आकाश को गुंजा देवें। और जब तेरी समितिओं में बैठे होवें तो खूब सोच समझ कर पूरी तरह गम्भीर विचार कर के ही मुख से शब्द निकालें, जिस से कभी अनजाने में भी हमारी वाणी द्वारा कभी तुम्हारा द्रोह न हो सके। हे भूमिमातः! हमारी

वाणी सदा तुम्हारे लिये चारु बोलने वाली होवे, सदा तुम्हारी सेवा के लिये समर्पित होवे।

शब्दार्थ—

(अधि भूम्यां) इस भूमि पर (ये ग्रामाः) जो ग्राम हैं, (यद् अरण्यं) जो जंगल हैं, (याः सभाः) जो सभा हैं, (ये संग्रामाः) जो लड़ाइयां हैं, (समितयः) और जो समितियां होती हैं, (तेषु) उन सब में हम, हे भूमिमातः ! (ते) तेरे लिये (चारु) उत्तम ही वाणी (वदेम) बोलें।

११ कार्तिक

यथा प्राण बलिहृतः तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः॥

अ. ११. ४. १६।

विनय

हे प्राण-महासम्राट् ! यह देखो कि संसार भर के सब प्राणी, सब प्रजाएं, सब जीव तुम्हारे लिये कर ला रहे हैं, तुम्हें प्रतिदिन अन्नरूपी कर की भेंट चढ़ा रहे हैं। यदि वे ऐसा न करें तो जीवित ही न रह सकें। तुम ऐसे प्रतापी सम्राट् हो कि डर के मारे, अपने मर जाने के डर के मारे, संसार भर के सब जीव नित्य तुम्हारी प्राणाग्नि में अन्न-बलि दे सकने के लिये अन्नों को जहां कहां से ला रहे हैं; बड़े यत्न से पसीना बहा कर अन्न,

धन जमा कर रहे हैं और किसी न किसी तरह तुम्हें सन्तृप्त कर रहे हैं। इस तरह हे प्राण! तुम जीवमात्र के सदा प्रथम उपास्य बने हुए हो। हे सुश्रवः, हे सुन्दर सुनाने वाले, हे सुन्दर यश वाले! तुम्हारा वह भक्त भी इसी तरह सब लोगों का उपास्य और सब की बलियों का भाजन बन जाता है जो कि तुम्हारा पूर्ण उपासक हो जाता है, जो कि तुम्हारे सुन्दर यश को सुनता है, तुम्हारी आज्ञाओं व बातों को सुनता है, और ठीक उन के अनुसार आचरण करता है। जो मनुष्य प्राण की उपासना करते हैं, प्राण की महामहिमा का श्रवण मनन करते हैं, उन के कानों में तुम न केवल सदा अपना दिव्यगान सुनाने लगते हो किन्तु उन्हें कब क्या करना चाहिये ऐसा अपना दिव्य सन्देश भी हर समय देने लगते हो। धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें इस प्रकार प्राण के श्रोता बनने का महासौभाग्य प्राप्त होता है। ऐसे लोग, हे प्राण! मनुष्य समाज के प्राण बन जाते हैं। हम संसार में देखते हैं कि मनुष्य समाज के प्राणभूत ऐसे महापुरुषों के के लिये सब लोग अपना अहोभाग्य समझते हुए नानाविध भेंट लाते हैं, उन के सामने अपना घर, धन, सम्पत्ति, पुत्र, जीवन तक उपस्थित कर देते हैं, उन्हें जीवित रखने की सब के सब लोग चिन्ता करते हैं, और अपने आप मर कर भी उन्हें जीवित रखना चाहते हैं। हे प्राण! जब तुम्हारे श्रोता की ही इतनी महिमा है तो स्वयं तुम्हारी अपनी महिमा को हम तुच्छ लोग क्या बखान कर सकते हैं?

शब्दार्थ—

(प्राण) हे प्राण! (यथा) जैसे (माः) ये (सर्वाः)

सब (प्रजाः) प्रजायें, जीव (तुभ्यं) तेरे लिये (बलिहृतः) बलि का, कर का, भेंट का आहरण करने वाली हुई-हुई हैं, (एवा) इसी तरह (अस्मै) उस पुरुष के लिये भी यह सब प्रजायें (बलिं) बलि, भेंट को (हरान्) लाती हैं, लाने लगती हैं (यः) जो प्राणोपासक पुरुष (सुश्रवः) हे सुन्दर सुनाने वाले, हे सुन्दर यश वाले ! (त्वां) तुझे (शृणवत्) सुनता है।

१२ कार्तिक

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥

अ. ११. ४. ७।

विनय

हे प्राण ! मैं सदा आते, जाते तुझ पर दृष्टि रखता हूँ। तेरी आने और जाने की गति के साथ अपनी मनोवृत्ति को लाता और ले जाता रहता हूँ। बल्कि तेरे आने जाने के साथ 'ओ ३म्' का जप करता रहता हूँ। इस तरह दिन-रात के चौबीसों घण्टों में जो तेरा इक्कीस हज़ार छः सौ बार आना जाना होता है उस के साथ मेरे इतने ही अजपाजप होते जाते हैं। इस साधना के शुरू करने से तू ठहरने लगता है और कभी-कभी स्वयमेव कुछ समय के लिये ठहरा भी रहता है। एवं तेरा स्वाभाविक अनुसरण करने में मेरे चारों प्रकार के प्राणायाम

भी सिद्ध हो जाते हैं। तेरे आने में बाह्यवृत्ति (रेचक) प्राणायाम होता है, तेरे जाने में आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) प्राणायाम होता है, ठहरने में स्तम्भवृत्ति (कुम्भक) प्राणायाम होता है, और स्वयमेव ठहर जाने में चौथा बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी प्राणायाम हो जाता है। मैं तो हठ योग के प्राणायाम की क्रियाओं के झगड़े में नहीं पड़ता, किन्तु आते, जाते, ठहरते और ठहरे हुए तुझे, हे प्राण ! सदा नमस्कार करता जाता हूँ। बस इसी से मुझे सब प्राणायामों का फल मिल जाता है। मैं तुझे तेरी सब स्थितियों और सब कालों में नमस्कार ही करता हूँ। सदा तेरे सामने झुकता हूँ। कभी तुझे अपनी इच्छानुसार झुकाने की घातक चेष्टा नहीं करता। तू जो अपने सहज-स्वभाव से मुझ में चल रहा है, उसी के अनुसार मैं अपने आप को झुकाता जाता हूं। उसी के अनुसार अपने जीवन को सञ्चालित करता जाता हूँ। किन्तु कभी अपनी सहूलियत के अनुसार तुझे मोड़ने की, परिवर्तित करने की अक्षम्य मूर्खता नहीं करता। हे प्राण ! मैं तो आते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, जाते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, ठहरते हुए तुझे नमस्कार करता हूं, और ठहरे हुए, बैठे हुए, तुझे नमस्कार करता हूँ।

शब्दार्थ—

(प्राण) हे प्राण ! (आयते) आते हुए (ते) तुझे (नमःअस्तु) नमस्कार होवे, (परायते) जाते हुए तुझे (नमःअस्तु) नमस्कार होवे। (तिष्ठते) ठहरे हुए (ते)

तुझे (नमः) नमस्कार करता हूँ, (उत) और (आसीनाय) बैठे हुए, स्थिर हुए-हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार करता हूं।

•

१३ कार्तिक

सनातनमेनमाहुः उताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥

अ. १०. ८. २३.।

विनय

विरले ही मनुष्य होते हैं जिन्हें कि आत्मा-परमात्मा, ईश्वर-ब्रह्म आदि की चर्चा रोज़-रोज़ रुचती है, आनन्ददायी लगती है। हम साधारण लोगों को तो यह चर्चा पुरानी, जीर्ण, घिसी हुई, बासी और नीरस ही लगती है। जब हमें रोज़-रोज़ समाज मन्दिर की वेदकथा में जाने को, नैत्यिक प्रार्थना में उपस्थित होने को या दैनिक भजन-कीर्तन में सम्मिलित होने को कहा जाता है तो हम प्रायः कहते हैं 'हम वहां जाकर क्या करेंगे? वहां तो रोज़ वही एकरस मामला चलता है, वहां कुछ नई चीज़ तो मिलती नहीं'। वास्तव में यह सच है कि जिसमें कुछ नई चीज़ न मिलती हो, कुछ नवीनता न होती हो वह वस्तु हमें कभी रसदायी नहीं हो सकती, आनन्ददायी नहीं हो सकती। जिन लोगों को प्रतिदिन ईश्वर-भजन करने में आनन्द आता है उन्हें इसीलिये आनन्द आता है क्योंकि सचमुच उन

भक्तों के लिये वे प्रभु नित्य नये होते रहते हैं, नित्य नया जीवन देते हुए मिलते हैं। हमें ईश्वर का ध्यान करने में तभी रुचि होती है जब कि उसका ध्यान हमें नित्य नया आनन्द देता है। सच्चा जप करने वाला वही है जिसे कि प्रभु का महा पुराना नाम लेते हुए और उसे बार-बार लेते हुए भी प्रत्येक बार में प्रभुनाम के उच्चारण से नया-नया उत्साह नया-नया ज्ञान, नई-नई शक्ति की उमंग और नया-नया प्रेम का रस मिलता है। अरे मेरे भाइयो ! ये दिन-रात कितने पुराने हैं, उन्हें तुम भी अपने जन्मदिन से लेकर आज तक बिल्कुल उसी एक रूप में रोज़-रोज़ आते हुए देख रहे हो, फिर भी ये तुम्हें पुराने घिसे हुए और नीरस क्यों नहीं लगते ? इसका यह कारण है कि इन दिन-रातों में तुम जीवन पाते रहे हो, प्रतिदिन विकसित होते गये हो। इसी तरह जब तुम उस परमेश्वर में रहने लगोगे, उस में प्रतिदिन आध्यात्मिक विकास पाने लगोगे, तो तुम भी कह उठोगे 'वह अनादिकालीन पुराना सनातन प्रभु मेरे लिये प्रतिदिन फिर-फिर नया होता है, प्रत्येक आज में, प्रत्येक नये दिन में फिर-फिर नया होता है'।

शब्दार्थ—

(एनं) इस देव को (सनातनं) सनातन, अनादिकालीन (आहुः) कहते हैं, (उत) और तो भी यह (अद्य) आज, प्रतिदिन (पुनः नवः) फिर-फिर नया (स्यात्) होता है। देखो (अन्यः) एक (अन्यस्य) दूसरे के (रूपयोः) रूपों में, समान रूपों में ही (अहोरात्रे) ये दिन-रात (प्रजायेते) सदा पैदा होते रहते हैं।

१४ कार्तिक

बालादेकमणीयस्कम् उतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥

अ. १०. ८. २५ ।

विनय

मुझ में प्रेमशक्ति किस प्रयोजन के लिये है? मेरे प्रेम का असली भाजन कौन है? यह खोजता हुआ जब मैं संसार को देखता हूं तो इस संसार में केवल तीन तत्व ही पाता हूँ, तीन तत्वों में ही यह सब कुछ समाया हुआ देखता हूँ। इन में से पहिला तत्व बाल से भी बहुत अधिक सूक्ष्म है। बाल के अग्रभाग के सैंकड़ों टुकड़े करते जायें तो अन्त में जो अविभाज्य टुकड़ा बचे उस अणु, परम अणु रूप का यह तत्व है। प्रकृति के इन्हीं परमाणुओं से यह सब दृश्य जगत् बना है। इस से भी सूक्ष्म दूसरा तत्व है। पर इस की सूक्ष्मता दूसरे प्रकार की है। इस की सूक्ष्मता की किसी भौतिक वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती। यह तत्व ऐसा अद्भुत है कि यह नहीं के बराबर है। यह है, किन्तु नहीं जैसा है। इस दूसरे तत्व से परे और इस से सूक्ष्म और इसे सब तरफ से आलिङ्गन किये हुए, व्यापे हुए, एक तीसरा तत्व है, तीसरी देवता है। यही देवता मुझे प्रिय है। पहिली प्रकृति देवता जड़ और निरानन्द होने के कारण मुझे प्रिय नहीं हो सकती। दूसरी

वस्तु मैं ही हूँ, मेरी आत्मा है। मैं तो स्वयं देखने वाला हूँ, तो मैं कैसे दीखूंगा ? अतः मैं नहीं के बराबर हूँ। मैं तो प्रेम करने वाला हूँ, अतः प्रेम का विषय नहीं बन सकता। अतएव मेरे सिवाय मेरे सामने दो ही वस्तुयें रह जाती हैं, यह प्रकृति और वह सच्चिदानन्दरूपिणी परमात्म-देवता। इन में से चित्स्वरूप मुझे यह चैतन्य और आनन्द से शून्य प्रकृति कैसे प्रिय हो सकती है ? मेरा प्यारा तो स्वभावतः वह दूसरा देवता है जो कि मेरी आत्मा की आत्मा है, जो कि मेरी आत्मा से परिष्वक्त हुआ इस में सदा व्यापा हुआ है और जो कि मुझे आनन्द दे सकता है। मैं तो स्पष्ट देख रहा हूँ कि प्रकृति के समझे जाने वाले ये बड़े से बड़े ऐश्वर्य तथा प्रकृति के दिव्य से दिव्य भोग दे सकने वाले ये अनगिनत पदार्थ सर्वथा आनन्द और ज्ञान-प्रकाश से शून्य हैं, अतः मैं तो प्रकृति से हट अपने उस प्यारे परम आत्मा की तरफ दौड़ता हूँ। मैं तो स्पष्ट देखता हूँ कि अपने प्रेम द्वारा उसे पा लेने पर मेरी भटकती हुई प्रेमशक्ति अपने प्रयोजन को पा लेवेगी, उसे पा लेने पर मेरा सम्पूर्ण प्रेम चरितार्थ और कृतकृत्य हो जावेगा।

शब्दार्थ—

(एकं) एक (बालात्) बाल से भी (अणीयस्कं) बहुत अधिक सूक्ष्म, अणु है (उत) और (एकं) एक (न इव) नहीं की तरह (दृश्यते) दीखता है। (ततः) उस से परे (परिष्वजीयसी) उसे आलिंगन किये हुए, उसे व्यापे हुए (देवता) जो देवता है (सा) वह (मम) मुझे (प्रिया) प्यारी है।

१५ कार्तिक

उत्तिष्ठत-अवपश्यत, इन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन, यद्यश्रातं ममत्तन ॥
ऋ. १०. १७९. १। अ. ७. ७२. १।

विनय

हे मनुष्यो ! उठो, देखो कि इस समय इन्द्र की कौन सी आहुति का समय है। यह काल-इन्द्र समय-समय पर संसार से भारी-भारी आहुतियां मांगता है, और इसी से यह संसार उन्नत होता है। यह देश-इन्द्र समय-समय पर बड़े-बड़े बलिदान चाहता है, और इस बलिदान को पाकर ही यह अपने एक बड़े अभ्युत्थान के पग को आगे उठा सकता है। और हम इस जीवात्मा-इन्द्र के लिये समय-समय पर आत्म-बलिदान करते हुए, ऋतु-ऋतु के अनुकूल इस का यजन हवन करते हुए, बल्कि एक दिन के भिन्न-भिन्न समयों पर उस समय के अनुकूल उस को उस के अन्न, ज्ञान आदि हवि का भाग प्रदान करते हुए चलते हैं; तभी हम आत्मोन्नति को पा सकते हैं। इस लिये हमें सदा खड़ा रहना चाहिये, जागते रहना चाहिये, और खड़े हो कर सावधानी से देखते रहना चाहिये कि कहीं किसी आहुति का समय तो नहीं आ गया है, कहीं संसार को, देश को या अपने आत्मा को हमारे किसी बलिदान की जरूरत तो नहीं आ गयी है। देखना, यदि हम प्रमाद के कारण समय को चूक

जायेंगे, जिस समय बलिदान करना चाहिये उस समय बलिदान न कर सकेंगे, तो हम न केवल उन्नति से वंचित हो जायेंगे किन्तु बहुत पिछड़ जायेंगे, पतित हो जायेंगे, अवनति के गर्त में गिर जायेंगे। अतः उठो और देखते रहो कि कहीं इन्द्र का भाग देने की ऋतु तो नहीं आ गयी है।

परन्तु आहुति सदा पकी हुई ही देनी चाहिये, कच्ची आहुति से कुछ फल नहीं होता, किन्तु हानि ही होती है। जैसे कि वृक्ष से बिना पके गिरा हुवा फल किसी काम नहीं आता, बल्कि खाने वाले को नुकसान पहुंचाता है, उसी तरह अपने आप को बिना पकाये जो यूं ही जोश में आकर बलिदान कर दिया जाता है उस से कुछ नहीं बनता, बल्कि बहुत वार वह आत्म-घात रूप होता है। अतः यदि आहुति पकी हुई हो तब तो उस का हवन कर दो, यदि न पकी हो तो ठहर जाओ। इस के लिये दुःखी भी मत होओ। यदि तुम आहुति के समय तक इसे नहीं पका सके तो अब दुःखी होने से क्या फायदा? अब तो प्रसन्न हो कर इसे फिर पकाओ, पकाते जाओ जिस से कि अगले आहुतिकाल में तो तुम इसे जरूर दे सको, अगले बलि-दान के समय तक तुम जरूर पके हुवे होओ।

शब्दार्थ—

(उत्तिष्ठत) उठो, खड़े होओ, (अव पश्यत) और सावधानी से देखो, (इन्द्रस्य) इन्द्र के (ऋत्वियं) ऋतु-ऋतु के अनुकूल, समय-समय पर दिये जाने वाले (भागं) हवि के, बलिदान के भाग को देखो। (यदि) यदि (श्रातं) [यह हवि]

पक चुकी है तो (जुहोतन) इस का हवन कर दो, और (यदि) यदि (अश्रातं) पकी नहीं है तो (ममत्तन) [ठहरो, दुःखी मत होओ] प्रसन्न हो कर इसे और पकाते जाओ।

१६ कार्तिक

अव मा पाप्मन् सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेहि-अविह्रुतम् ॥

अ. ६. २६. १।

विनय

हे पाप ! तू अब मुझे छोड़ दे। तूने मुझे बहुत देर अपने वश में रखा, अब तो मेरा तुझे वश में करने का समय आ गया है। तेरे वशीभूत हो कर मैंने बहुत दुःख पाये, अब तो मेरा सुख पाने का समय आ गया है। हे पाप! तुझ से पाये दुःख ही अब मेरे सुख के कारण हो जावें। यह तो ईश्वरीय नियम है कि दुःख के बाद सुख आते हैं, और पाप की प्रतिक्रिया में पुण्य का प्रादुर्भाव होता है। अब तो उस प्रतिक्रिया का समय आ गया है। तुझ से दुःख पा-पा कर आज मैं सीधा हो गया हूँ, अकुटिल हो गया हूँ। मेरे सब कुटिलता, टेढ़ापन, झूठ, पाखण्ड तुझ पाप की तरफ ले जाने वाले थे। पर आज अकुटिल, सरल, सीधा, सच्चा हो कर तो मैं अब भद्र के लोक की तरफ चल पड़ा हूँ। हे पाप ! यदि मैं तुझ में ग्रस्त हो कर इतना न भटकता,

इतना दुःख न पाता तो मैं कभी भी कुटिलता की, असत्य जीवन की बुराई को अनुभव न कर पाता और कभी पुण्य का सच्चा पुजारी न बन सकता। इस तरह हे पाप ! तू ही आज मुझे भद्र के लोक में स्थापित कर रहा है। हे पाप ! तू अब अकुटिल हुए मुझे कल्याण के लोक में पहुँचा दे, मैं जितना पक्का बेशर्म पापी था उतना ही कट्टर दृढ़ सच्चा पुण्यात्मा मुझे बनादे, जितना ही गहरा मैं पाप के गर्त्त में गया हुआ था उतना ही ऊँचा तू मुझे पुण्य के लोक में स्थिर कर दे।

शब्दार्थ—

(पाप्मन्) हे पाप ! तू (मा) मुझे (अवसृज) छोड़ दे, (वशी सन्) अब मेरे वश में होता हुआ तू (नः) मुझे (मृडयासि) सुखी कर दे। (पाप्मन् हे पाप ! तू अब (अविह्रतं) कुटिलता रहित, सरल, बने हुए (मा) मुझे (भद्रस्य लोके) कल्याण के लोक में (आ धेहि) स्थापित कर दे।

१७ कार्तिक

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् छपाति नः।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥

अ. १. १६. ४।

विनय

मैं किसी से द्वेष नहीं करता। किन्तु फिर भी कई भाई

मेरे सपत्न व असपत्न हो कर मुझ से शत्रुता रखते हैं। जो सपत्न हैं, समान क्षेत्र वाले हैं वे तो प्रायः ईर्ष्या व मत्सर के कारण मुझ से वैर रखते हैं। और जो असपत्न हैं, असमान क्षेत्र वाले हैं, वे प्रायः मुझ से इस कारण शत्रुता करते हैं क्योंकि मेरे किसी कर्तव्यपालन से उन के स्वार्थ को धक्का पहुंचता है। किसी भी कारण से कोई सपत्न या कोई असपत्न या कोई भी मेरा अन्य भाई जब मुझ से द्वेष करता करता है, मुझ से प्रीति नहीं रख सकता, और अतएव मुझे शाप देता है, कोसता है, गाली देता है, बुरा भला कहता है, मेरे लिये अपनी शक्ति भर अनिष्ट-चिन्तन करता है, तो इस से मेरा तो कुछ बिगड़ता नहीं, किन्तु उसी का नाश होता है। जब मुझे ज्ञान नहीं मिला था तब तक तो मैं ऐसे शापों से घबड़ा उठता था और इन का वास्तव में मुझ पर बहुत असर भी होता था। जब कोई मुझे अख़बार या व्याख्यान द्वारा आम जनता में गालियां देता था या मेरे परिचित-समाज में मेरी झूठी निन्दा फैलाता था तो इसे जान कर मैं बड़ा अशान्त हो जाता था और मेरा चित्त बड़ी देर तक उद्विग्न रहता था। किन्तु जब से कुछ ज्ञान मिला है, कुछ वेद-ज्ञान मिला है, प्रभु की भक्ति के प्रसाद में कुछ आत्म-ज्ञान मिला है तब से यह 'ब्रह्म', यह ज्ञान ही, मेरा भीतरी कवच बन गया है। इस ज्ञान में रहता हुआ मैं इन शापों से सर्वथा अस्पृष्ट रहता हूँ और सदा आनन्द में रहता हूँ पर वह विचारा मुझ से द्वेष करने वाला तो अवश्य मारा जाता है; मनुष्य-समाज के सब देव लोग, सब ज्ञानी पुरुष, उस निरर्थक द्वेष करने वाले को डांटते हैं, ताड़ना करते हैं तथा सब ईश्वरीय

देव, सब 'ऋतु' देव उस अपराध के लिये उसे अवश्य दण्ड देते हैं। इस में कोई क्या कर सकता है ?

शब्दार्थ—

(यः) जो (सपत्नः) मेरा समानक्षेत्र में प्रतियोगी है, (यः) जो (असपत्नः) असमान क्षेत्र में प्रतियोगी है, (यः चः) और जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) मुझे (शपाति) शाप देता है कोसता है (तं) उसे (सर्वे देवाः) सब देव (धूर्वन्तु) ताड़ना करें, (मम) मेरा तो (आन्तरं) भीतरी, अन्दर से रक्षा करने वाला (वर्म) कवच, मेरा रक्षा साधन (ब्रह्म) ब्रह्म है, ज्ञान है, वेदज्ञान है।

१८ कार्तिक

इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥

ऋ. ८. ९५. ९।

विनय

हे आत्मन्! तुम परमैश्वर्य वाले हो। हे इन्द्र! तुम हमें सब प्रकार का ऐश्वर्य दे सकते हो। हम यूं ही बाहर भटकते हैं, बाहर की वस्तुओं का आसरा देखते हैं, जब कि सब अनिष्टों को हटा सकने वाले और सब अभीष्टों के दे सकने वाले, हे

मेरे आत्मन्! तुम हमारे अन्दर विद्यमान हो। पर तो भी जो हम में तुम्हारी यह शक्ति अभी प्रकट नहीं होती है इस का कारण यह है कि हमने अपने अन्दर तुम्हें शुद्ध नहीं किया है, हमने आत्म-विशुद्धि नहीं प्राप्त की है। जिन का आत्मा शुद्ध हो जाता है, जो तपश्चर्या द्वारा व निष्काम कर्म की साधना द्वारा या पवित्र सामोपासना द्वारा अपने राग द्वेष की मलिनताओं को, नानाविध विषय-वासनाओं की अशुद्धि को और अज्ञान-मल को हटा कर आत्मा को विशुद्ध कर लेते हैं, वे आत्माराम हो जाते हैं। वे अपनी विशुद्धात्मा को पाकर फिर अन्य किसी भी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। तब वे अपनी विशुद्ध आत्मा से जो कुछ मांगते हैं वह सब कुछ उन्हें मिल जाता है, मिलता रहता है। निःसन्देह हे आत्मन्! तुम शुद्ध हुए हमें सर्वविध ऐश्वर्य दिया करते हो। संसार में जो दानशील, स्वार्थ-त्यागी, उदार पुरुषों को सब रमणीय धन मिल रहे हैं, जो अस्तेय-व्रतियों को 'सर्वरत्नोपस्थान' हो रहा है यह सब, हे विशुद्ध आत्मन्! तुम्हारा ही दान है, तुम्हारी ही विशुद्धता का प्रताप है। विशुद्ध हुए तुम तो सब विघ्न-बाधाओं को भी मार भगाते हो। सब पापों का नाश कर देते हो, सब वृत्रों का हनन कर देते हो, सब रुकावटों को दूर कर देते हो। और अन्त में, हे शुद्ध इन्द्र! तुम हमें सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य को, 'वाज' को, भी देते हो। इस लिये भाइयो! आओ, अब जब कभी हम अनैश्वर्य से पीड़ित होवें या रमणीय धनों को प्राप्त करना चाहें तो हम अपनी आत्मा को शुद्ध करने में लग जावें; जब कभी वृत्र के प्रहारों से आक्रान्त होवें तो इस आत्म-विशुद्धि के हथियार को

पकड़ लेवें, और जब कभी सर्वोच्च ज्ञानबल की आवश्यकता अनुभव करें तो भी आत्मशुद्धि की ही शरण में जावें, आत्म-शुद्धि का ही आश्रय ग्रहण करें।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे आत्मन् ! (शुद्धिःहि) शुद्ध हुए-हुए ही तुम (नः) हमें (रयिं) ऐश्वर्य देते हो, (शुद्धः) शुद्ध हुए-हुए तुम (दाशुषे) दानशील के लिये (रत्नानि) रत्नों को, रमणीय धनों को देते हो। (शुद्धः) शुद्ध हुए-हुए तुम (वृत्राणि) वृत्रों को, पापों को, बाधाओं को (जिघ्नसे) हनन करते हो और (शुद्धः) शुद्ध हुए-हुए तुम (वाजं) ज्ञान बल को (सिषासति) देना चाहते हो, देते हो।

१६ कार्तिक

अव यत्स्वे सधस्थे, देवानां दुर्मतीरीक्षे।
राजन्नप द्विषः सेध, मीढ्वो अप स्रिधः सेध ॥

ऋ. ८. ७६. ६.।

विनय

हे सच्चे राजन् ! सोम ! यह हृदय तुम्हारा सधस्थ है, सहस्थान है। इस हृदय में तुम परम पदस्थ होते हुए भी मेरे साथ आ बैठे हो। अतः जब तुम कभी अपने इस सधस्थ में देवों की दुर्मतियां देखो, जब तुम यह देखो कि इस हृदय

में देवों की सुमतियों की जगह दुर्मतियां प्रकट हो रही हैं, दिव्य वृत्तियों का विपरीत भाव हो रहा है तो तुम इस दुरवस्था को हटाने के लिये, हे मीढ्वः, हे अमृत के सिंचन करने वाले! मेरे सब द्वेषों को दूर कर दो, मेरे सब हिंसनों को हटा दो, अपना प्रेमरस प्रवाहित करके मेरे द्वेषभावों व हिंस्र वृत्तियों को बाहर बहा दो। हे सोम! तुम्हारे अमृत सिंचन के होते हुए ये द्वेष आदि कैसे रह सकते हैं? सचमुच ये द्वेष व हिंसा के भाव ही हैं जिन के कि कारण मेरे हृदय से देवों का राज्य हट जाता है, देवों की सुमतियां उठ जाती हैं और ऐसी दुर्दशा उपस्थित हो जाती है। हे सोम! क्या तुम कभी अपने इस पवित्र सधस्थ की ऐसी दुर्दशा देख सकते हो? क्या तुम्हें कभी अपने इस हृदय सहस्थान की यह दुरवस्था सह्य हो सकती है? तो हे देव! हमारी तुम से एक ही प्रार्थना है कि तुम इस हृदय में ऐसा अपना अमृत सिंचन करो कि इस में द्वेष व हिंसा का लवलेश भी शेष न रहे। तब मेरे हृदय में देवों का ही राज्य हो जायगा, देवों का ही सुमतिपूर्ण राज्य हो जायगा।

शब्दार्थ—

(राजन्) सच्चे राजन्! सोम! तुम (यत्) जब (स्वे) अपने (सधस्थे) इस सहस्थान में (देवानां) देवों की (दुर्मतीः) दुर्मतियों को, विपरीत भावों को (ईक्षे) देखो तो (मीढ्वः) हे सिंचन करने वाले! तुम (द्विषः) द्वेषों को

(अपसेध) दूर कर दो, और (स्निधः) हिंसा वृत्तियों को भी (अपसेध) दूर कर दो।

•

२० कार्तिक

यद् वर्चो हिरण्यस्य, यद् वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चः, तेन मा संसृजामसि ॥
सा० पू० ६. ४. १०॥

विनय

मैं पूरा वर्चस्वी बनूंगा। तेजस्वी बनूंगा। मैं प्रत्येक वस्तु से वर्चस् का संग्रह करूंगा और प्रत्येक प्रकार के वर्चस् का संग्रह करूंगा। असली हिरण्य जो वीर्य है, उसके वर्चस् से तथा गौओं, इन्द्रियों के वर्चस् से एवं सत्यस्वरूप ब्रह्म के वर्चस् से मैं अपने आप को पूरी तरह संयुक्त कर लूंगा। हिरण्यों के, तैजस पदार्थों के सेवन द्वारा मैं शारीरिक वर्चस् को, वीर्य को, अपने में उत्पन्न करूंगा तथा ब्रह्मचर्य द्वारा इस शरीर में संस्थापित कर लूंगा। मेरी इन्द्रियों में आत्मा (इन्द्र) द्वारा जो तेज आता है और जो कि इन्द्रियों के विषयभोगों में पड़ने से क्षीण होता रहता है उस तेज को मैं संयम द्वारा संरक्षित कर अपनी मानसिक वर्चस्विता को प्राप्त करूंगा। और आत्मिक तेज पाने के लिए मैं सत्यज्ञान के, वेद ज्ञान के, सत्यस्वरूप ब्रह्म के तेज को अपनी आत्मा में धारण करूंगा। इस प्रकार ब्रह्म-

तेज पाकर जागृत हुआ मेरा आत्मा अपने अनन्त तेज से चमक उठेगा और मेरे मन और देह को सहज में तेजोमय बना देगा। तब मैं संसार में एक चमकती हुई प्रदीप्त ज्योति की तरह फिरूंगा; जो कोई मेरे संपर्क में आवेगा उस के भी शरीर मन आत्मा को प्रदीप्त, प्रज्वलित उद्बुद्ध करता हुआ विचरूंगा; मैं वर्चोमय, वर्चस्वी, बन जाऊंगा।

शब्दार्थ—

(हिरण्यमय) वीर्य का (यत्) जो (वर्चः) तेज है, (उत) और (गवां) इन्द्रियों का (यद् वा) जो कुछ (वर्चः) तेज है, तथा (सत्यस्य) सत्यस्वरूप (ब्रह्मणः) ब्रह्म का, ज्ञान का, वेद का (वर्चः) जो तेज है (तेन) उस सब तेज से (मा) मुझे, अपने आपको (सं सृजामसि) पूरी तरह संयुक्त करता हूँ।

●

२१ कार्तिक

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥

अ. १. १. २।

विनय

मैं जो कुछ सुनता हूँ वह मुझ में ठहरता नहीं। मानों मैं 'एक कान से सुनता हूँ और दूसरे से निकाल देता हूँ'। इस

तरह मेरा मनोमय शरीर ऐसा रोगग्रस्त हुआ है कि मैं अच्छे से अच्छा सत्य उपदेश सुन कर और उत्तम से उत्तम वेदज्ञान पा कर के भी उसे अपने में धारण नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि मेरे इस शरीर ने अपनी मननक्रिया को छोड़ दिया है; मनन करना, आत्मचिन्तन करना, एकान्त में आत्म-निरीक्षण व विचार करना त्याग दिया है। ऐसा करना मेरे स्वभाव में ही नहीं रहा है। अतः मेरा मन 'देव' नहीं रहा है, द्योतमान, प्रज्वलित और जीवनसम्पन्न नहीं रहा है, और मेरा मनोमय शरीर मृतप्राय हो गया है। अतः, हे वाचस्पते! हे वाणी और ज्ञान के पालक देव! हे मेरे मनोमय देह के प्राण! तुम फिर मुझ में आओ, और अपने प्रवेश द्वारा मेरे इस मृत मनःशरीर को पुनरुज्जीवित कर दो। तुम देव मन के साथ फिर मुझ में प्रविष्ट होओ और मुझ में मनन, चिन्तन और आत्मभावना व आत्मनिरीक्षण का अभ्यास फिर से जारी कर दो। अभी तक बेशक बिना भूख के खाये स्वादु से स्वादु भोजन की तरह मेरा सुना हुआ सुन्दर से सुन्दर वेदज्ञान मुझे नीरस और अरुचिकर लगता रहा है, परन्तु अब से तो मुझ में देव मन के जगा देने द्वारा हे वसोष्पते! तुम इस वेदज्ञान में मुझे नितरां रत कराओ, रमण कराओ। हे बसने वाली स्थिर वस्तु के पति! हे इस ज्ञान-ऐश्वर्य के रक्षक! तुम ऐसा करो कि शुष्क से शुष्क किन्तु सत्य और हित उपदेश मुझे अब बड़ा आनन्ददायी और सरस लगने लगे, और अतएव मुझ में रक्षित और स्थिर रहने लगे। तुम मुझ में मननक्रिया को

। जगा दो कि मेरा मन अब द्योतमान हो जावे; इस में

मानसिक अग्नि जल उठे, ज्ञान की भूख लगने लगे, जिज्ञासायें उत्पन्न होने लगें। तब तो भूख में खाये रूखे-सूखे भी भोजन की तरह शुष्क से शुष्क दीखने वाले उच्च ज्ञान में भी मेरा मन निःसन्देह रमने लगेगा, और बड़ा आनन्दरस पाने लगेगा। तब तो मैं जो कुछ सुनूंगा वह अवश्य मुझ में ठहरा करेगा, हज़म हो कर मेरे मनोमय शरीर का अंग हो जाया करेगा; और इस तरह मैं प्रतिदिन नया-नया ज्ञान ग्रहण कर सकता हुआ मानसिक तौर पर समुन्नत, वृद्धिगत और विकसित होता जाऊंगा।

शब्दार्थ—

(वाचःपते) हे वाणी व ज्ञान के पालक देव! तुम (पुनः) फिर (एहि) मुझ में आओ; (देवेन) देव, द्योतमान (मनसा) मन के, मननक्रिया के (सह) साथ आओ। (वसोःपते) हे वसु के पति! तुम (निरमय) मुझे [इस ज्ञान में] रमण कराओ, रस दिलाओ, आनन्दित कराओ; एवं (मयि श्रुतं) मेरा सुना हुआ ज्ञान (मयि एव) मुझ में ही (अस्तु) रहे, ठहरे।

•

२२ कार्तिक

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥

अ. ११.५३.८।

विनय

हर एक वस्तु अपने काल में ही होती है। जिस कार्य का, जिस बात का उचित काल नहीं आया है उस के लिये यत्न करना उस की आशा करना निरर्थक होता है, मूर्खतापूर्ण होता है। अतः हमें अपना हरेक कार्य उचित काल में ही करना चाहिये। हमें तप करना हो, ज्येष्ठत्व पाना हो या ज्ञान प्राप्त करना हो, चाहे कुछ करना हो, वह सब हमें कालानुसार ही करना चाहिये। देखो, परमेश्वर भी अपना सब कुछ नियत काल में करते हैं, वे समय-पालन में भी परम हैं, परिपूर्ण हैं। वे इस जगत् की उत्पत्ति के लिये अपना ज्ञानमय तप बिलकुल नियत काल में करते हैं, ज्येष्ठ हिरण्यगर्भ को नियतकाल पर प्रादुर्भूत करते हैं, और ब्रह्म (वेद) का प्रकाश भी सदा नियत काल आने पर करते हैं। कालरूप में ही ये भगवान् प्रजापति के भी पिता हैं। यह सब संसार बेशक सूर्यप्रजापति या हिरण्यगर्भ-प्रजापति से उत्पन्न हुवा है, किन्तु वे प्रजापति भी तो काल आने पर ही उत्पन्न हो सकते हैं। अतः उन के भी जनक ये काल परमेश्वर हैं। और केवल सृष्टि की यह उत्पत्ति ही नहीं, किन्तु सृष्टि का प्रतिक्षण संचालन भी काल द्वारा ही हो रहा है। इस संसार का एक तिनका भी बिना काल आये नहीं हिल सकता। सचमुच काल ही सब का ईश्वर है। भूत का, भवत् का, भविष्यत् का सब ब्रह्माण्ड इस ब्रह्माण्ड की सब अनगिनत वस्तुयें, काल में ही यथास्थान रखी हुई हैं, काल का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। अतः आओ,

हम भी उस कालदेव की उपासना करें, हम देखें कि आज से उस के प्रतिकूल हमारा कभी कोई आचरण न होने पावे, और हमारा एक-एक कर्म, एक-एक चेष्टा उस कालदेव की अनुमति पाकर ही हुवा करे।

शब्दार्थ—

(काले) काल में, उचित काल में (तपः) तप, (काले) काल में (ज्येष्ठं) ज्येष्ठत्व, और (काले) काल में ही (ब्रह्म) ज्ञान (समाहितं) रखा हुवा है। (ह) निश्चय से (कालः) काल (सर्वस्य) सब का (ईश्वरः) ईश्वर है (यः) जो कि (प्रजापतेः) सब प्रजा के उत्पादक हिरण्यगर्भ का भी (पिता) उत्पादक (आसीत्) होता है।

२३ कार्तिक

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥
अ. १६. ६८. १।

विनय

यह ठीक है कि हमें वेदज्ञान प्राप्त कर के उसी के अनुसार कर्म करने चाहियें। परन्तु वेदज्ञान को पा लेना कोई आसान काम नहीं है। वेद को तो हमें बड़े गहरे पानी में पैठ कर निकालना होगा, उद्धृत करना होगा। जब तक कि हम

'अव्यचस्' और 'व्यचस्' के, सान्त और अनन्त के, अन्दर और बाहर के, 'अहं' और शेष सब 'त्वं' के भेद को, रहस्य को पूरी तरह जान न गये हों तब तक 'ज्ञान क्या वस्तु है', 'ज्ञान होने का क्या अर्थ है' इसे ही हम नहीं समझ सकते। ओह, आज प्रभु-कृपा से मैंने तो 'अव्यचस्' और 'व्यचस्' की घुण्डी को खोल लिया है। अन्दर और बाहर का क्या मतलब है इसे मैंने पा लिया है। सान्त और अनन्त जहां पर आकर मिलते हैं उस गुप्त रहस्यस्थान को कपाट खोल कर देख लिया है। मैं देख रहा हूँ कि यह सब कुछ—यह सब अनन्त ब्रह्माण्ड—मेरी आत्मा में, मुझ अणु में, समाया हुआ है और मेरा आत्मा, मेरा अपनापन, मेरा 'अहं' इस सब कुछ को, इस सब ब्रह्माण्ड को, व्याप्त कर रहा है। सुनने वालों को मेरी ये बातें विचित्र लगेंगी, परन्तु मेरी माया, मेरी उच्च प्रज्ञा द्वारा जो मुझे आज साक्षात् अनुभव हो रहा है, उस अनुभव को मैं आज इस भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार प्रकट नहीं कर सकता। अरे, वेदज्ञान कहीं पुस्तक में नहीं रक्खा है। वेदज्ञान तो मेरी आत्मा में प्रकाशित होता है, और वेदज्ञान नित्य-सम्बन्ध से परमात्मा में रहता है। जो ज्ञान इन दोनों द्वारा—इस आत्मा (अव्यचस्) और उस परमात्मा (व्यचस्) द्वारा—निकलता है, उद्भृत होता है, वही असली वेद (ज्ञान) है और उसी के अनुसार कर्म करना वैदिक कर्म करना है। अतः आओ भाइयो! अब हम इस प्रकार से ही वेद को पाकर अपने कर्मों को किया करें। इस प्रकार जब हम अपने आप को उस अनन्त से जोड़ कर, अपने

क्षुद्र शरीर को इस विश्व ब्रह्माण्ड से मिला कर, अपनी परिमित इन्द्रिय आदियों को बाहर के व्यापक देवों से समस्वर कर के जो कर्म किया करेंगे वे ही कर्म[1] वैदिक होंगे, वेदानुसारी होंगे, सच्चे अर्थों में वेदानुसारी होंगे।

शब्दार्थ—

(अव्यसः) अव्यापक, सान्त, एकदेशी 'अहं' के (च) भी, और (व्यचसः) व्यापक, अनन्त, बाहर फैले हुये 'त्वं' के (च) भी (बिलं) बिल को, भेद भरे रहस्य को (मायया) अपनी प्रज्ञा द्वारा (विष्यामि) खोलता हूँ। (ताभ्यां) उन दोनों [अव्यचस् और व्यचस्] द्वारा (वेदं) वेद को, वेद-ज्ञान को (उद्धृत्य) ऊपर निकाल कर, उद्धृत कर के (अथ) उस के बाद, इस तरह वेद को प्राप्त करने के बाद, हे भाइयो! हम (कर्माणि) कर्मों को, वैदिक कर्मों को, (कृण्महे) करें।

२४ कार्तिक

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यतः उत शूद्रे उतार्ये॥

अ. १६. ६२. १।

---

१. मनु अ. १२. श्लोक ११८ से १२६ तक।

विनय

हे मेरे प्यारे प्रभो ! तुम मुझे सब का प्यारा बनाओ। मैं यदि सचमुच तुम्हारा प्यारा बनना चाहता हूँ तो मुझे तुम्हारे इस सब जगत् का प्यारा बनना चाहिये। तुम तो इस जगत् में सर्वत्र हो; छोटे-बड़े, नीचे-ऊंचे सभी प्राणियों में मन्दिर बना कर बसे हुए हो। यदि इन सब रूपों में मैं तुम से प्यार न कर सकूं तो मैं तुम्हें प्यारा कह के क्योंकर पुकार सकूं ? ये सांसारिक लोग बेशक अपने से बड़ों, बलवानों, धनवानों और प्रतिष्ठा वालों के ही प्यारे बनना चाहते हैं. अपने से छोटों, गरीबों, दलितों और असहायों के प्यारे बनने की कोई ज़रूरत नहीं समझते। ये बेशक अपने राजाओं और स्वामियों का प्रेम पाना चाहते हैं किन्तु अपनी प्रजा और नौकरों का प्रेम पाने की कभी इच्छा नहीं करते। परन्तु इसी में ही तो तुम्हारे सच्चे प्रेमी होने की परीक्षा होती है। क्योंकि इन गरीबों, पीड़ितों, असहायों का प्रेम चाहना ही असल में तुम से प्रेम करना है। बलियों, धनियों और राजाओं से प्रेम की इच्छा करना तो सांसारिक बल से, सांसारिक धन से, सांसारिक प्रभुत्व से प्रेम करना है, तुम से प्रेम करना नहीं है। इस लिये मुझे तो तुम जहाँ देवों और राजाओं का प्यारा बनाओ, वहाँ इन सब देखने वाले सामान्य लोगों का तथा नौकरों और सेवकों का भी प्यारा बनाओ। जहाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों का प्यारा बनाओ, वहाँ इन सामान्य प्रजाओं (वैश्यों) और शूद्रों का भी प्यारा बनाओ। शूद्रों और आर्यों का, नीचों और ऊंचों का, शिष्यों और गुरुओं का

सेवकों और स्वामियों का, आधीनों और अधिकारियों का, सब छोटों और बड़ों का मुझे प्यारा बनाओ। मुझे ऐसा बनाओ कि इस संसार में जो कोई मुझे देखे, मेरे सम्पर्क में आवे, वह मुझ से प्यार करे। हे प्रभो! मैं तो तुम्हारे इस सब संसार से प्रेम की भिक्षा माँगता हूँ। क्योंकि मैं देखता हूँ कि जब तक मैं तुम्हारे इस छोटे बड़े समस्त संसार से प्रेम नहीं कर लूंगा तब तक, हे मेरे परम प्यारे! मैं कभी तुम्हारे प्रेम का भाजन न हो सकूंगा, तुम्हारे प्रेम का अधिकारी न बन सकूंगा।

शब्दार्थ—

हे प्रभो! (मा) मुझे (देवेषु) देवों में [ब्राह्मणों में] (प्रियं कृणु) प्यारा करो, (मा) मुझे (राजसु) राजाओं में [क्षत्रियों में] (प्रियं कृणु) प्यारा करो, (सर्वस्य पश्यतः) सब देखने वालों का (प्रियं) प्यारा करो, (उत शूद्रे) शूद्र में भी (उत आर्ये) और आर्य में भी, सब में, मुझे प्यारा बनाओ।

•

२५ कार्तिक

त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्।
त्वां देवा अबिभ्युषः तुज्यमानास आविशुः॥

ऋ. १. ११. ५।

विनय

हे इन्द्र ! तुम 'वल' असुर का संहार कर उस द्वारा छिपा रखी हुई देवों की गौओं को फिर देवों को दिला देते हो। तुम्हारा यह नित्य इतिहास हम में से प्रत्येक जीव में दोहराया जा रहा है. हमारे आत्मिक ऐश्वर्य ऐसे खोये जा चुके हैं कि हमें उन के बारे में कुछ पता ही नहीं है। यह हमें ढकने वाला[1] 'वल' नाम अज्ञानासुर ही है जिस ने कि हमारी इन आत्मिक ऐश्वर्यों की गौओं को छिपा रखा है। इस के वशीभूत हुये हम लोग अज्ञान-निद्रा में न जाने कब से पड़े सो रहे हैं। परन्तु हे इन्द्र ! जब तुम इस अज्ञानान्धकार का संहार कर देते हो, अज्ञान-मेघ का भेदन कर देते हो, गौओं को छिपा रखने वाले इस 'वल' के बिल को खोल देते हो, हमारी प्रसुप्तावस्था में पड़ी सुषुम्ना के विवर का उद्‌घाटन कर देते हो, शक्ति को जगा देते हो, तब तो आश्चर्यमय अवस्था आती है वह तो स्वयं देखने ही योग्य है। तब वे छिपी गौएं निकल पड़ती हैं, एक से एक अद्‌भुत ऐश्वर्य प्रकट होने लगते हैं। अन्दर प्रकाश हो जाता है, आनन्ददायक कम्पन होते हैं और आनन्द की लहरें उठती हैं तथा हे आत्मन् ! तुम्हारी सब दिव्य शक्तियाँ आ आकर तुम से संयुक्त होने लगती हैं। हे इन्द्र ! हम तुम्हारे पराक्रम की क्या कथा कहें ? वलासुर तो अपने अन्धकार द्वारा तुम्हारे देवों को उन के ऐश्वर्यों से जुदा कर चुका होता है और तुम्हारे इन देवों

---

१. 'वली वृणोतेः' निरुक्त ६—२।

को तुम से भी विच्छिन्न कर चुका होता है। पर ऐसी अवस्था पहुंच जाने पर भी तुम अपने वज्र से जब उस का संहार करने लगते हो तो एकदम प्रकाश की धारायें बहने लगती हैं और उस प्रकाश में वे सब ऐश्वर्य देवों को फिर मिल जाते हैं तथा एवं ऐश्वर्ययुक्त हुवे ये देव कभी-कभी 'वल' के प्रहारों से मारे जाते हुवे और कांपते हुवे भी अब निर्भय हुवे-हुवे तुम्हें देख लेने के कारण निर्भय हुवे-हुवे, तुम में प्रविष्ट होने लगते हैं, आ आ कर तुम से संयुक्त होने लगते हैं।

शब्दार्थ—

(अद्रिवः) हे वज्र वाले इन्द्र! (त्वं) तुम (गोमतः) गौओं को रोक रखने वाले (वलस्य) वल के (बिलं) बिल को (अपावः) खोल देते हो। तब (देवाः) सब देव (तुज्यमानासः) हिंसित होते हुवे कांपते हुवे भी (अविभ्युषः) निर्भय हुवे-हुवे (त्वां) तुझ में फिर (आविशुः) प्रविष्ट होने लगते हैं।

२६ कार्तिक

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु ॥
अ. १९. ६४. १।

विनय

जब समिधा अग्नि में डाली जाती है तो वह जल उठती

है, अग्निरूप हो जाती है; समिधा में छिपी अग्नि उद्बुद्ध हो जाती है प्रदीप्त अवस्था में आ जाती है। इसी लिये वैदिक काल के जिज्ञासु लोग समित्पाणि होकर (समिधा हाथ में लेकर) गुरु के पास आया करते थे, अपने को समिधा बना कर गुरु के लिये अर्पित कर देते थे जिस से कि वे अपने गुरु की अग्नि से प्रदीप्त हो जावें। उस वैदिक विधि के अनुसार मैं भी अपने आचार्य के चरणों में उपस्थित हुआ हूँ और उनकी अग्नि द्वारा उन जैसा प्रदीप्त होना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि प्रदीप्त हो जाना बड़ा कठिन है। प्रदीप्त होने से पहिले तो अपने को जला देना होता है। और यह अपने को जला देना तभी किया जा सकता है जब कि मुझ में पूर्ण श्रद्धा हो कि इस जलने द्वारा मैं अवश्य प्रदीप्त व ज्ञानमय हो जाऊंगा। इस लिये पहिले तो मुझ में श्रद्धा की ज़रूरत है। इसी तरह गीली होने आदि किसी दोष के कारण यदि समिधा अग्नि को धारण नहीं कर सकती है तो भी वह प्रदीप्त नहीं हो सकती। इस लिये मुझ में ज्ञान के धारण करने वाली बुद्धि, मेधा, की ज़रूरत है। श्रद्धा और मेधा के बिना मैं कभी ज्ञान से प्रदीप्त नहीं हो सकता। पर इस श्रद्धा और मेधा को मैं और कहां से लाऊँ? मैं तो इन 'जातवेदाः' अग्नि से, अपने आचार्यदेव से ही प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे श्रद्धा और मेधा का दान करें। वे जातवेदा हैं, उन्हें ज्ञान उत्पन्न हो चुका है, वे ज्ञान की जलती हुई अग्नि हैं। अतः वे 'जातवेदाः' यदि चाहें तो मुझे श्रद्धा और मेधा भी दे सकते हैं।

परन्तु अन्त में तो, मैं जो प्रातः सायं भौतिक अग्नि के

लिये अपनी काष्ठ की समिधा लाता हूँ, शिष्यरूप में आचार्याग्नि के लिये अपने शरीर-मन-आत्मा के प्रदीपनार्थ जो तीन समिधायें लाता हूँ, राष्ट्रसेवक या धर्मसेवक बनकर राष्ट्राग्नि या धर्माग्नि आदि के लिये जो तदुपयोगी समिधायें लाता हूँ, ये सब की सब समिधायें अन्त में उस 'वृहत् जातवेदाः' के लिये, उस सब कुछ जानने वाले महान् अग्नि के लिये, लाता हूँ, जो कि सब आचार्यों का आचार्य है, सब अग्नियों का अग्नि है, परम-परम अग्नि है, और अन्त में उसी 'वृहत् जातवेदाः' से श्रद्धा और मेधा की याचना करता हूँ जो कि परम श्रद्धामय है और मेधा का भण्डार है।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! तुझ (बृहते) बहुत बड़े, परम (जातवेदसे) जातमात्र के जानने वाले, ज्ञानयुक्त के लिये मैं (समिधं) समिधा को, प्रदीपनीय वस्तु को (आहार्ष) आहरण करता हूँ, लाता हूं। (सः) वह (जातवेदाः) ज्ञानयुक्त अग्नि (मे) मुझे (श्रद्धां च) श्रद्धा को भी (मेधां च) और मेधा को भी (प्रयच्छतु) प्रदान करे।

•

२७ कार्तिक

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनां अनु॥

अ. ६. १. १६।

विनय

हे युगल देवो ! हे सर्वत्र ज्योति और रस के देने वाले दिव्य देवो ! तुम नाना रूपों में जगत् को व्याप्त कर रहे हो। तुम मेरे अन्दर सूर्यशक्ति और चन्द्रशक्ति के रूप में कार्य कर रहे हो, तुम प्राण और अपान के रूप में भी मेरे शरीर का सेवन कर रहे हो। हे अश्विनौ ! तुम सदा 'शुभस्पति' हो, दीप्ति के पालक हो, तेज के संरक्षक हो। इसलिये मैं तुम से वाणी के तेज की याचना करता हूँ। मैं चाहता हूं कि मैं जनता की सेवा के लिये अपनी शारीरिक वाणी को, मानसिक वाणी को, आत्मिक वाणी को तेजस्वी, वर्चस्वी, ओजस्वी बना लूं। तुम मधु के लिये प्रसिद्ध हो। यह स्थूल माक्षिक मधु, शहद भी तुम्हारे ही ज्योति और रस द्वारा बना हुआ होता है। इस शहद के सेवन से मैं अपनी स्थूल वाणी को तेजस्वी और बलवान् बना लूंगा। पर तुम्हारा असली मधु तो हमारे अन्दर है। तुम्हारी क्रिया द्वारा प्राण उठ कर जब सिर में व्याप्त हो जाते हैं तो कपाल में जो तुम्हारा मधु झरता है, जिस सारभरे अमृत का हठयोगी लोग खेचरी मुद्रा में अपनी जिह्वा द्वारा आस्वादन भी करते हैं, उस अपने मधु से, हे प्राणापानरूपी अश्विनौ ! तुम मेरे सम्पूर्ण शरीर को अक्त कर दो, मेरे रोम-रोम को भर दो। इस प्रकार मधुसिंचित हो जाने पर निःसंदेह मेरी मानसिक वाणी ऐसी वर्चस्वती हो जायगी कि तब मैं मनुष्यों में जो भाषण करूंगा वह उन के हृदयों का वेधन करता हुआ जायगा और अवश्य असर पैदा करेगा। पर हे

सूर्यप्राण और चन्द्रप्राणरूपी अश्विनौ! तुम जिस मधु के लिये प्रसिद्ध हो वह तो तुम्हारा मधुज्ञान है, तुम्हारी ज्ञान-सारभरी मधुविद्या है। उस तुम्हारे मधु द्वारा मेरा आत्मा जब तृप्त हो जायगा तब तो मेरी वाणी में आत्मा बोलने लगेगा। उस समय मेरी आत्मा से निकलने वाले शब्द ऐसे ओजस्वी होंगे कि वे निःसंदेह मनुष्यों को हिला दिया करेंगे और उन्हें उचित कर्म में प्रवृत्त कर दिया करेंगे। इस सारघ मधु से सिंचित आत्मिक वाणी द्वारा ही, हे अश्विनौ! मैं जनों का सच्चा अनुसेवन कर सकूंगा, उनका सच्चा उपकार साधन कर सकूंगा।

(अश्विना) हे अश्विनौ! (शुभस्पती) हे दीप्ति के पालको! तुम अपने (सारघेन मधुना) माक्षिक शहद से या सारभरे अमृत और मधुज्ञान से (मा) मुझको (अङ्क्तं) अंजन कर दो, रोम-रोम को भर दो, (यथा) जिस से कि मैं (जनान् अनु) जनों के प्रति, जनता के अनुसेवन करने के लिये (वर्चस्वतीं वाचं) तेजस्वी वाणी को (आवदानि) बोलूं, बोल सकूं।

•

२८ कार्तिक

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे॥

अ. ७. १०९. ७।

विनय

हे प्रभो ! बड़ा विकट समय उपस्थित है । मैं इस वर्तमान दुरवस्था को कैसे दूर करूं ? मेरा इस में कुछ बस नहीं चलता । मुझे हार पर हार खानी पड़ रही है । जिन लोगों ने यह दुरवस्था उत्पन्न की है वे मेरे सब न्यायोचित यत्नों को अपने अन्यायपूर्ण दुष्कृत्यों द्वारा निष्फल करते जा रहे हैं । मैं इस समय क्या करूं ? जो मैं उपतप्त हो कर आज देवताओं का आह्वान कर रहा हूँ, पुकार रहा हूँ, क्या मेरा यह सब यत्न भी व्यर्थ जायेगा ? क्या इस समय ये देवलोग भी आकर मेरी मदद नहीं करेंगे ? जो मैंने अब तक ब्रह्मचर्य का उग्र कठोर व्रत पालन किया है क्या वह मेरा ब्रह्मचर्य-तप भी इस दुरवस्था को पलट न सकेगा ? जो मैंने सब को हरण करने वाली, विद्वानों को भी खींचने वाली, दुर्दम इन्द्रियों को सब तरफ से काबू किया है वह मेरी संयम की शक्ति भी क्या मुझे आज जय-लाभ न करा सकेगी ? ओह, मेरे ये सब यत्न यदि ऐसे समय पर भी मेरे काम न आयेंगे तो और कब आयेंगे ? यह देखो, दूसरे लोग मुझ पर हंस रहे हैं, वे सचमुच समझ रहे हैं कि देवों का आह्वान, ब्रह्मचर्य की तपस्या और इन्द्रिय-निग्रह फिजूल सी चीजें हैं, निरर्थक ढकोसले हैं । इसलिये हे प्रभो ! अब तो ऐसा कर कि मेरे ये सब पुण्य कर्म—मेरे ये देवाह्वान, ब्रह्मचर्य, संयम आदि सब पुण्य प्रयत्न—मुझे सुखी कर देवें, विजय प्राप्त करा कर मुझे सुख पहुँचाने के कारण होवें । अब तो ऐसा कर दो कि इन दिव्यशक्तियों का चमत्कार एक वार फिर जगत् में प्रकट हो

जावे। प्रभो! मैं तुम से और क्या कहूँ?

शब्दार्थ—

(यत्) जो (नाथितः) उपतप्त हुआ मैं (देवान्) देवों को (हुवे) पुकारता हूँ, (यत्) जो (ब्रह्मचर्यं) मैंने ब्रह्मचर्य को (ऊषिम) वसा है, पालन किया है और (यत्) जो (बभ्रून्) हरण करने वाली (अक्षान्) इन्द्रियों को (आलभे) सब तरफ से काबू किया है (ते) ये सब मेरे कर्म (ईदृशे) ऐसे विकट समय में (नः) मुझे (मृडन्तु) सुखी करें, जय प्राप्त करा कर सुखी करें।

•

२९ कार्तिक

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

य. १९. ३०।

विनय

प्यारे! क्या तू सत्य को पाने के लिये व्याकुल हो गया है? तो तू आ, इन चार सीढ़ियों द्वारा तू अवश्य 'सत्य' को पा जायगा। प्रारम्भ में, यदि तुझे सचमुच सत्य से प्रेम है तो तुझे जहां कहीं जो कोई सच्चा नियम, सत्य नियम, व्रत पता लगेगा तू उसे अवश्य पालन करने लग पड़ेगा। इस तरह व्रतों को जानने और यथाशक्ति पालन करने की तेरी प्रवृत्ति तुझे शीघ्र

दीक्षा का पात्र बना देगी। दीक्षित हो जाने पर तू पहिली सीढ़ी चढ़ जावेगा। दीक्षित हो जाना मानों सत्य के साम्राज्य में घुसने का प्रवेशपत्र (परवाना) पा लेना है, और सत्य के दरबार में पहुँचने का अधिकारी बन जाना है। दीक्षित हो जाने की इस पहिली सीढ़ी पर जब तू चढ़ जावेगा तो तू सत्य के वायुमण्डल में रहने वाला हो जावेगा और तेरा सत्यप्रेमी साथियों का परिवार बन जावेगा। तब तेरे लिये अपने अन्य सत्यपथिक भाइयों के अनुभव से लाभ उठाते हुये सत्यनियमों को जान लेना और उनका यथावत् पालन करना बहुत सहज हो जायगा। एवं आगे-आगे सत्य के पालन में अभ्यस्त होता हुआ तू तीसरी सीढ़ी पर भी तब पहुंच जावेगा जब कि तुझे यह स्वात्म-अनुभव हो जावेगा कि सत्य के पालन से तेरी वृद्धि (दक्षिणा) होती है, तेरी उन्नति होती है। तब तू स्वयमेव अनुभव करेगा कि सत्य के पालन से तू बलवान् और उन्नत हो रहा है। कुछ आश्चर्य नहीं यदि उस समय बाहर का संसार भी तुझे प्रतिष्ठा देता हुवा और तेरे प्रति नानाविध दक्षिणायें लाता हुआ तेरी दक्षता, बलवत्ता और बढ़ती को स्वीकार करे। तुझे अपने आप तो अपनी वृद्धि अनुभूत होगी ही। यह अनुभव ही तुझ में सत्य के लिये श्रद्धा उत्पन्न कर देगा और तुझे श्रद्धा की तीसरी सीढ़ी पर पहुंचा देगा। तब तुझ में सत्य के लिये ऐसी अटल श्रद्धा हो जायगी कि तू त्रिकाल में भी यह शक न करेगा कि कभी सत्य तेरी हानि भी कर सकता है। श्रद्धा पा जाने पर मनुष्य बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ने लगता है। अतः जब तू अपनी श्रद्धा में मग्न हो कर सत्य के—केवल सत्य के—पा लेने

के लिये व्याकुल हुवा-हुवा एकाग्र हो कर अग्रसर हो रहा होगा तो इस से अगली उच्च सीढ़ी पर पैर रखते ही तुझे 'सत्य' के दर्शन हो जायेंगे, 'सत्य' का साक्षात्कार हो जायेगा, अपने प्यारे सत्य का साक्षात्कार हो जायगा।

शब्दार्थ—

(व्रतेन) व्रत से, सत्यनियम के पालन से मनुष्य (दीक्षां) दीक्षा को, प्रवेश को (आप्नोति) प्राप्त करता है। (दीक्षया) दीक्षा से (दक्षिणां) दक्षिणा को, वृद्धि को, बढ़ती को (आप्नोति) प्राप्त करता है। (दक्षिणा) दक्षिणा से (श्रद्धां) श्रद्धा को (आप्नोति) प्राप्त करता है और सदा (श्रद्धया) श्रद्धा द्वारा (सत्यं) सत्य को (आप्यते) प्राप्त किया जाता है।

३० कार्तिक

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि-आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

य. ४०. ७।

विनय

मोह और शोक से मनुष्य कैसे पार होवे ? ओह, यदि तुम में से कोई सचमुच मोह और शोक से पार होना चाहता है तो वह इस प्रश्न का उत्तर सावधानी से सुने। अवश्य ही एक

एक ऐसी स्थिति होती है जहाँ पहुँचने पर मोह जन्म नहीं पा सकता; जहाँ शोक का कभी प्रसंग नहीं उठ सकता। यदि तुम उस स्थिति में पहुँचना चाहते हो तो अपने आप को फैलाओ, फैलाओ; इतना फैलाओ कि संसार का कोई भूत, कोई वस्तु, कोई जगह तुम्हारी आत्मा से रिक्त (खाली) न रहे। तुम प्रेम में भरकर अपने 'अहं' को, 'मैं' को सब कहीं सर्वत्र व्याप्त कर दो। 'मैं' को मारने का तरीका ही यह है। यह तुम्हारी 'मैं' कुचलने से कभी विनष्ट नहीं होगी, पर फैला देने से यह स्वयमेव नष्ट हो जायगी। तब तुम्हारी सब जगह आत्मवत् समान दृष्टि हो जायगी। असल में, इस स्थिति को वे ही विशेष ज्ञानी 'विजानन्' पुरुष पा सकते हैं जिन्होंने ज्ञान-समाधि द्वारा अपनी परम आत्मा को देख लिया है, इस के सर्वगत रूप का साक्षात् कर लिया है। उन्हें तो ऊपर-नीचे, इधर-उधर सर्वत्र वह आत्मा ही आत्मा प्रसूत दीखता है। ये सब दीखने वाले भूत, ये दृश्यमान संसार के सब के सब पदार्थ, उन्हें उस आत्मा में ही सामान्य रूप से रखे हुए, लटके हुए दिखाई देते हैं। जब वे कभी विशेष रूप में इन पदार्थों व भूतों पर दृष्टि देते हैं तो उन सब के अन्दर भी उन्हें वह एक आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है, वही एक अनुस्यूत दिखाई देता है। उस आत्मा के सिवाय उन्हें अपने सहज ध्यान में और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। वे सदा सर्वत्र उस अपने एक अद्वितीय परम आत्मा के ही दर्शन करते हैं। उस दर्शन में वे अपनी 'मैं' को भी डुबा देते हैं। तो फिर उन को मोह,

शोक कहाँ से हो सकता है ? जब सब कहीं प्रकाश ही प्रकाश हो गया तो वहाँ मोह का अन्धकार कैसे आ सकता है, जब आनन्द का शाही डेरा लग गया तो उस के आस-पास भी शोक-पामर कैसे फटक सकता है ? जब समुद्र ही सूख गया तो उस में ज्वारभाटे क्योंकर उठेंगे, जब सब अपना ही अपना हो गया तो शोक-मोह किस लिये होंगे ?

शब्दार्थ—

(यस्मिन्) जिस ज्ञान में, जिस ज्ञानमय स्थिति में (सर्वाणि भूतानि) सब भूत, सब पदार्थ जातमात्र (आत्मा एव) आत्मा ही, अपने ही (अभूत्) हो जाते हैं, (तत्र) उस स्थिति में (एकत्वं अनुपश्यतः) परम आत्मा के एकत्व का साक्षात् करने वाले (विजानतः) उस विशेष ज्ञानी के लिये (कः मोहः) कौन सा मोह और (कः शोकः) कौन सा शोक रह सकता है।

गृहस्थी को चाहिये

कि

अशितावत्यतिथौ अश्नीयात् ।

अथर्ववेद ६. ८८ ।

अतिथि को, अपने घर में आये हुये मेहमान को, खिला लेने पर ही वह स्वयं खावे ।

★

अनुक्रमणिका

स्वाध्याय के लिए चुनी हुई पुस्तकें

वैदिक साहित्य

ईशोपनिषद्भाष्य	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति	२)
वेद का राष्ट्रिय गीत	श्री प्रियव्रत	५)
वेदोद्यान के चुने हुए फूल	,,	५)
वरुण की नौका, दो भाग	,,	६)
वैदिक विनय, तीन भाग	श्री अभय	२), २), २)
वैदिक ब्रह्मचर्य गीत	,,	२)
ब्राह्मण की गौ	,,	।।।)
आत्म-समर्पण	श्री भगवद्दत्त	१।।।)
वैदिक अध्यात्म विद्या	,,	१।)
वैदिक स्वप्न विज्ञान	,,	२)
वेद गीताञ्जली [वैदिक गीतियां]	श्री वेदव्रत	२)
सोम-सरोवर, सजिल्द, अजिल्द	श्री चमूपति	२), १।।)
वैदिक-कर्तव्य-शास्त्र	श्री धर्मदेव	१।।।)
अग्निहोत्र	श्री देवराज	२।)

धार्मिक साहित्य

सन्ध्या-सुमन	श्री नित्यानन्द	१।।)
सन्ध्या-रहस्य	श्री विश्वनाथ	२)
धर्मोपदेश, तीन भाग	स्वामी श्रद्धानन्द	१।), १), १।।)
आत्म-मीमांसा	श्री नन्दलाल	२)
वैदिक पशुयज्ञ-मीमांसा	श्री विश्वनाथ	१)

अथर्ववेदीय मन्त्र-विद्या श्री प्रियरत्न १॥)
जीवन-संग्राम श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति १)

संस्कृत ग्रन्थ

संस्कृत-प्रवेशिका, प्रथम भाग (१५ वां संस्करण) सचित्र ॥।)
" " द्वितीय भाग (५ वां संस्करण) " ॥।=)
साहित्य-सुधा-संग्रह, प्रथम, द्वितीय व तृतीय विन्दु १।), १।), १।)
पाणिनीयाष्टकम्, पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध ७), ७)
पञ्चतन्त्र (सटीक) पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध २), २॥)
सरल शब्दरूपावली ॥=)
संस्कृत-ट्रान्सलेशन एण्ड कम्पोज़ीशन १।)
अन्योक्ति शतकम् ।) आर्य सूक्ति सुधा ॥)
संस्कृत साहित्य पाठावली ≡) जिन चरितम् ।)
संक्षिप्त मनुस्मृति ॥) साहित्य दर्पण २)
रघुवंश, संशोधित (३ सर्ग) ।) काव्यलतिका १।)
नीतिशतक संशोधित ≡) बालनीति कथामाला १)

ऐतिहासिक तथा जीवनी

भारतवर्ष का इतिहास, तीन भाग श्री रामदेव २), २॥), ४॥)
बृहत्तर भारत (सचित्र) सजिल्द, अजिल्द, श्री चन्द्रगुप्त ७),६)
ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, दो भाग स्वामी श्रद्धानन्द ॥।)
अपने देश की कथा (छठा संस्करण) श्री सत्यकेतु १।=)
हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के अनुभव श्री क्षितीश ॥)

योगेश्वर कृष्ण (दूसरा संस्करण)	श्री चमूपति	४)
सम्राट् रघु	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति	१।)
जीवन की झांकियां (तीन भाग)	,,	॥), ॥), १)
जवाहरलाल नेहरू	,,	१।)
महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति	२)
दिल्ली के वे स्मरणीय २० दिन	,,	॥)

स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकें

आहार (भोजन की पूर्ण जानकारी)	श्री रामरत्न	५)
आसव-अरिष्ट	श्री सत्यदेव	२॥)
लहसुन : प्याज़ (तीसरा संस्करण)	श्री रामेश बेदी	२॥)
शहद (शहद की पूरी जानकारी)	,,	३)
तुलसी (दूसरा परिवर्द्धित संस्करण)	,,	२)
सोंठ (तीसरा परिवर्द्धित संस्करण)	,,	१॥)
देहाती इलाज (तीसरा परिवर्द्धित संस्करण)	,,	१)
मिर्च (काली, सफेद और लाल) दूसरा संस्करण	,,	१)
सांपों की दुनियां सचित्र, सजिल्द	,,	५)
त्रिफला (संवर्धित संस्करण)	,,	३।)
नीम : बकायन (अनेक रोगों में उपयोग)	,,	१॥।)
पेठा : कद्दू (गुण तथा विस्तृत उपयोग)	,,	॥)
स्तूप निर्माण कला, सचित्र, सजिल्द	श्री नारायण राव	३)
प्रमेह, श्वास, अर्शरोग		१।)
जल चिकित्सा	श्री देवराज	१॥।)

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की मासिक पत्रिका]

व्यवस्थापक	सम्पादक	
श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति	श्री सुखदेव	श्री रामेश बेदी
कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी	दर्शनवाचस्पति	आयुर्वेदालंकार

ख्याति-प्राप्त लेखकों और उच्च-कोटि के विद्वानों की सुरुचिपूर्ण, रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक रचनायें और गम्भीर तथा खोजपूर्ण लेखों को पढ़ने के लिये हिन्दी की इस साहित्यिक व सांस्कृतिक मासिक पत्रिका को पढ़िये। प्रत्येक अङ्क की पाठ्य-सामग्री हिन्दी का स्थिर साहित्य है। यह साहित्य आप को मानसिक तथा आध्यात्मिक भोजन प्रदान करेगा। स्वास्थ्य सम्बन्धी उपयोगी लेख आप को स्वस्थ और आनन्दित रहने में सहायक होंगे। वार्षिक मूल्य---देश में ४), विदेश में ६), नमूने की प्रति ।=)। आज ही इस पते पर मनीआर्डर भेजिये--

प्रबन्धक,
गुरुकुल-पत्रिका,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।